लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय



राधाकृष्ण

हिंदी उपन्यास
उपलब्धियाँ

मूल्य ८ रुपये

प्रकाशक
अरविन्दकुमार
राधाकृष्ण प्रकाशन
२ अन्सारी रोड, दरियागंज
दिल्ली-६

मुद्रक
रूपक प्रिंटर्स
दिल्ली-३२

क्रम



सम्भावनाओं के नये क्षितिज

अपने-अपने देश की परम्पराओं की जड़ें सुदूर अतीत में देखने और खोजने की स्वाभाविक प्रवृत्ति प्राय: प्रत्येक देश में दृष्टिगोचर होती है। इसस सम्भवत: राष्ट्रीय अहं की तुष्टि होती है। हिन्दी साहित्य भी इस दृष्टि से अपवादस्वरूप नहीं रहा। हिन्दी उपन्यासों और कहानियों के जन्म और विकास के सम्बन्ध में जहाँ-कहीं भी लिखा मिलता है वहीं उन्हें बहुत पीछे खींच ले जाने का उत्साह लेखकों में पाया जाता है। रामायण, महाभारत और महाकाव्यों में ऐसे अनेक उपाख्यान मिलते है जो उपन्यास के निकट प्रतीत होते हैं। नल-दमयन्ती, सती-सावित्री के उपाख्यान और कुछ उपनिषदों के प्रणेताओं द्वारा कथित कथाएँ कहानियों की भांति लगती है। हितोपदेश, वृहत्कथा, जातक-कथाओं, पंचतन्त्र, योगवासिष्ठ आदि में कथा के तत्त्व निस्सन्देह विद्यमान हैं। भारतीय इतिहास के मध्य-युग से सम्बन्धित अनेक प्रेम-कथाएँ भी इसी कोटि में रखी जा सकती हैं। किन्तु इतने पर भी हम उन्हें आधुनिक उपन्यास और कहानी के समकक्ष नहीं रख सकते। धर्म और नैतिकता एवं उपदेशात्मकता उन्हें आधुनिक कथा-साहित्य से अलग करती हैं। जो साहित्यिक विधा आज उपन्यास और कहानी के नाम से अभिहित की जाती है, वह कला उद्देश्य और विषय-परिधि की दृष्टि से नितान्त आधुनिक विधा है, उसका वपन-काल ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है और वह अंग्रेज़ी के माध्यम द्वारा अन्य यूरोपीय साहित्य के साथ स्थापित सम्पर्क के फलस्वरूप जन्म धारण कर सकी।

हिन्दी में आधुनिक उपन्यास-साहित्य के जन्म का श्रेय उन पाश्चात्य प्रभावों को ही दिया जा सकता है जो उन्नीसवीं शताब्दी में भारत में अंग्रेज़ी राज्य की स्थापना के फलस्वरूप दृष्टिगोचर होने लगे थे। अंग्रेज़ी राज्य की स्थापना से भारतीय जीवन को भारी क्षति उठानी पड़ी, इसमें तो कोई सन्देह प्रकट किया ही नहीं जा सकता। किंतु उस घुणाक्षर-न्याय के अंतर्गत ही सही, उससे लाभ भी हुए, यह निर्विवाद है। उस समय आधुनिक नवीन शिक्षा और प्रेस, रेल

तार तथा अन्य वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप भारतीय जीवन का चौमुखी सस्कार होने लगा था। मध्ययुगीन परम्पराओं ने जीवन में जो निष्प्राणता, निष्क्रियता, अवरुद्ध गति और दुर्गन्ध उत्पन्न कर दी थी, उन्हें समूल नष्ट कर देने का देश ने कठिन व्रत धारण किया। पौराणिक धर्मान्धता, कर्मकाण्ड तथा बाह्याडम्बरों की जड़ें हिल उठीं। जीवन के प्रति दृष्टिकोण में एक नवीनता और ताजगी आई। पौराणिकता के स्थान पर वैज्ञानिकता, कट्टरता और धर्मान्धता के स्थान पर मानवोचित उदारता, जीवनगत सत्य का अन्वेषण और नवीन मूल्यों एवं मानदण्डों की स्थापना का जैसा पुनीत प्रयास उन्नीसवीं शताब्दी में दृष्टिगोचर होता है, वैसा पिछली कई शताब्दियों तक दृष्टिगोचर नहीं होता। इस प्रयास को देश के प्राचीन गौरव से बल प्राप्त हुआ। इस समग्र बौद्धिक एव मानसिक जागरूकता को ही 'भारतीय पुनरुत्थान' की सज्ञा प्रदान की जाती है। यूरोपीय आधुनिक क्रान्ति के फलस्वरूप पाश्चात्य देशों के विचार-क्षेत्र में जो क्रान्ति हुई थी, उसका प्रभाव ऐतिहासिक घटना-चक्र के कारण भारतीय जीवन पर भी पड़ा। यहाँ दुनिया की चीज़ों को देखने-परखने की पद्धति बदली, विचार-क्रम बदला और शीघ्र ही धर्म तथा धार्मिक नैतिकता एवं पारलौकिकता के स्थान पर समाज, चारों ओर का जीवन, देश आदि बातें शिक्षितों का ध्यान आकृष्ट करने लगीं। निस्सन्देह यह शिक्षित समुदाय नवोदित मध्य वर्ग था, जो नवीन शासकों की प्रशासकीय आवश्यकताओं तथा साम्राज्यवादी, उपनिवेशवादी, राजनीतिक एव आर्थिक संगठन के फलस्वरूप जन्म धारण कर सका था। उन्नीसवीं शताब्दी से पहले इस मध्य-वर्ग का कोई अस्तित्व नही था। इस मध्य-वर्ग ने यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा प्राप्त की थी और वह बौद्धिक पिपासा और प्रगति की आकांक्षा से ओत-प्रोत था और उसी पर समाज के नवनिर्माण का उत्तरदायित्व था, क्योंकि उच्च वर्ग स्थान-च्युत, आर्थिक विषमताओं से पीड़ित और नवीन प्रभावों से दूर था और बहुसंख्यक निम्न-वर्ग अशिक्षित तथा अंधकार में लिप्त, फलत: कुछ कर सकने में असमर्थ था। नवनिर्माण भी द्विपक्षीय था। एक ओर तो कुरीतियों, अंध-परम्पराओं और चारित्रिक हीनताओं से रहित स्वस्थ एवं कल्याण-प्रद और देशोपकारक भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं की स्थापना, दूसरी ओर पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति के अभारतीय घातक प्रभावों से अलग रहते हुए वहाँ की अच्छी-अच्छी बातें ग्रहण करना। अधोगति के गर्त में गिरे हुए देश का इस दृष्टि से उद्धार करना वास्तव में गंगा को ब्रह्मलोक से भूतल पर लाना था। और, इसी महान् कार्य को सम्पन्न करने का गुरुतर भार हिन्दी उपन्यास साहित्य ने अपने ऊपर लिया उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में। उसमें मानव-जीवन का चित्रण और मानव-मूल्यों की स्थापना जिस रूप में हुई उससे वह प्राचीन कथा-कहानियों से भिन्न हो गया आज बीसवीं शताब्दी में उपन्यासों

का हमारे जीवन के साथ कितना घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित हो गया है, इस तथ्य से हम सब भली-भाँति परिचित हैं। प्राचीन काल में जो स्थान महाकाव्य का था, वही स्थान आज उपन्यास का है। उसका महत्त्व अन्य साहित्यिक रूपों की अपेक्षा कहीं अधिक है, क्योंकि वह जीवन को अधिक निकट से देखता और उसका विश्लेषण करता है। विदेशों में तो पुस्तकों का विभाजन तक 'फ़िक्शन' और 'नॉन-फ़िक्शन' के रूप में होने लगा है। चारों ओर उसका गौरव ही गौरव दिखाई देता है। उसके इस गौरव की स्थापना मध्य वर्ग द्वारा ही हुई थी। मध्य वर्ग ने ही उसे अपना 'महाकाव्य' बनाया है। उसमें मध्यवर्गीय नवीन चेतना अभिव्यक्त हुई। यह चेतना धार्मिक, सामाजिक, पारिवारिक, वैयक्तिक, चारित्रिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक, आर्थिक तथा मनोवैज्ञानिक आदि विविधता-सम्पन्न थी। उपन्यास साहित्य ने नए साँचे में ढले नर-नारी प्रस्तुत कर विधाता के सर्वकर्तृत्व की समकक्षता की। मध्यवर्गीय समाज की पीठिका में वह अधोगति, कूप-मण्डूकता और अन्धविश्वास के प्रति विद्रोह का साक्षात् प्रतीक और भावी मानव जाति का भाग्य-विधाता बना।

उपन्यास यथार्थ मानव-अनुभवों एवं सत्य का आकलन है। वह जीवन की अनेकता में एकता तथा अपूर्णता में समग्रता स्थापित करने का प्रयत्न करता है। उपन्यास के इतिहास या उसकी आलोचना का अध्ययन करते समय यही तथ्य विशेषतः विचारणीय होता है कि लेखक-जीवन का अपना अनुभूत सत्य भी उसके अपने समाज और राष्ट्र का व्यापक सत्य होता है, जो छनकर उसकी रचना मे आता है और जिससे पाठक अपना निकटतम परिचय स्थापित करता है। यह उल्लेखनीय है कि उपन्यास आरम्भ से ही राष्ट्र की भावना से सम्बद्ध रहा है। यथार्थ मूर्त रूप धारण कर वह पाठकों के सम्मुख प्रकट होता है। कविता मे शब्दों पर अधिक बल दिया जाता है और उसमें एक प्रकार की अपार्थिवता निहित रहती है। उपन्यास हमारे परिचित समाज, व्यक्तियों और तथ्यों का चित्रण करता है। तभी तो उपन्यास पढ़ लेने के उपरान्त हम कह उठते हैं, 'ऐसा ही होता है'। इस प्रकार साहित्य के अन्य रूपों की अपेक्षा उपन्यास में जीवन की यथार्थता, सत्यता, आवश्यकताएँ, सम्भावनाएँ और स्वतन्त्रता, व्यक्तित्व और मूल्यों का निरूपण अधिक होता है। जानते हुए भी हम जिन बातों को नहीं जानते, उन्हें उपन्यासकार अभिव्यक्ति प्रदान कर हमारे समक्ष साकार बना देता है। उसकी रचना से समाज में प्रचलित सत्य की अनुभूति घनीभूत हो उठती है। जीवन की यथार्थता और सत्य को उभारने में ही उपन्यास का सामाजिक महत्त्व है। इस सामाजिक महत्त्व का निर्वाह करने से वह पाठकों में मानवता के नए आदर्श और मानव-मूल्यों की स्थापना करता है।

समाज में निरन्तर होने वाले परिवर्तन-क्रम का व्यक्ति पर क्या प्रभाव

पड़ता है, इस यथार्थ का निरूपण करने की शक्ति रखने के कारण ही उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उपन्यास जन्म धारण कर सका हो तो कोई आश्चर्य नहीं। यह उस समय की देन है जब कि समाज में आत्मचेतना जाग्रत हो उठी थी। एक ऐतिहासिक घटना-चक्र के फलस्वरूप उत्पन्न सामाजिक आवश्यकता के कारण हिन्दी में उपन्यास का आविर्भाव हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व के भारतीय समाज में सरलता थी, मूल्यगत स्थायित्व था, फलतः उपन्यास जैसे परिवर्तन-प्रिय साहित्य-रूप की आवश्यकता भी नहीं थी। उस समय शिक्षा का प्रसार बहुत अधिक नहीं था और न वह धर्म और समाज के नायक नरेशों के अंकुश से ही स्वतन्त्र था। व्यक्ति समाज से बिखर नहीं पाया था और न उसमें अपने व्यक्ति के अस्तित्व के प्रति जागरूकता थी। वह अपनी सीमाओं में बद्ध रहते हुए ही यथार्थ से परिचित रहता था। इसलिए उन्नीसवी शताब्दी में जब यूरोपीय औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप उत्पन्न विचारादर्श का प्रभाव भारतीय जीवन पर पड़ा, तब नवोत्पन्न मध्य वर्ग ने नवीन शिक्षा प्राप्त कर सामन्तवादी जीवन-क्रम की परिधि तोड़ डाली और जब इन कारणों से समाज में परिवर्तन होने शुरू हुए और उसने करवट बदली तो हिन्दी में उपन्यास का जन्म हुआ, क्योंकि सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक जीवन की प्रखरता, यही तो दो बातें हैं, जिन पर उपन्यास फूलता-फलता है। यूरोपीय, विशेषतः इंग्लैण्ड की विचारधारा के साथ स्थापित सम्पर्क के फलस्वरूप व्यक्ति की महत्ता, समाज में उदारवादी, साथ ही मानवतावादी और राष्ट्रीय आकांक्षाओं के जन्म ने मध्य वर्ग को विशेष धरातल पर स्थापित कर उपन्यास को उसका दर्पण बनाया।

अन्य अनेक कारणों के अतिरिक्त हम उन्नीसवीं शताब्दी का मूल्य इस दृष्टि से भी आंकते हैं कि इसी समय भारतवासियों ने अपने गुण-दोषों का सार्वजनिक रूप में विश्लेषण किया। अनिश्चितता होते हुए भी वह बौद्धिक सक्रियता से स्पन्दित थी। उपन्यास उस स्पन्दन का मानदण्ड था। यह कहा जाता है कि मनुष्य यथार्थ को ज़रा मुश्किल से ही पचा पाता है। उपन्यास ने इस मुश्किल को, कभी कुछ कम कभी कुछ ज्यादा, आसान बनाया। चारों ओर फैले अज्ञानान्धकार के बीच समाज की नई मूर्ति गढ़ने में उपन्यास ने सहायता पहुँचाई। यदि पश्चिम से सम्पर्क न भी स्थापित हुआ होता, तो भी जब कभी उन्नीसवीं शताब्दी जैसी परिस्थितियाँ उत्पन्न होतीं, तभी देश को उपन्यास जैसा साधन ग्रहण करना पड़ता जहाँ तीव्र परिवर्तनशीलता ही जीवन-क्रम बन जाय, वहाँ उपन्यास अनिवार्य है। 'प्रसाद' जैसे इतिहास-प्रेमी साहित्यकार की सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति भी उपन्यासों द्वारा ही हुई। और फिर, उपन्यास के लिए काव्य और नाटक जैसी दुरूह रचना-पद्धति की भी आवश्यकता नहीं पड़ती।

किन्तु के जिस गौरवपूर्ण स्थान पर आज हम गर्व करते हैं उसका

यह स्थान प्रारम्भ में नहीं था। भारतवर्ष में ही नहीं, यूरोप में भी एक समय वह था, जब न केवल लड़कियों के लिए, वरन् वयस्क लड़कों के लिए भी उपन्यास पढना अच्छा नहीं समझा जाता था। माता-पिता तथा वयोवृद्ध लोग नवयुवकों तथा नवयुवतियों का उपन्यास पढ़ना जीवन में ऐसी अनेक बातों का उत्पन्न होना समझते थे जो उनके चारित्रिक स्वास्थ्य और विकास के लिए हितकर नही समझी जाती थीं। वे लोग समझते थे कि उपन्यास पढ़कर लड़के-लड़कियाँ प्रेम करना सीख जाते हैं। जिस स्वतन्त्रता के साथ हम आज उपन्यास पढ़ते हैं, वह स्वतन्त्रता उन्नीसवीं शताब्दी के पाठकों को नहीं थी। यही परिस्थिति यूरोप मे अठारहवीं शताब्दी में थी। जब वाल्टर स्कॉट ने अपने वेवर्ली उपन्यास प्रकाशित किए थे तो उन पर अपना नाम नहीं दिया था, क्योंकि उस समय उपन्यास लिखना किसी भी प्रतिष्ठित व्यक्ति के लिए अच्छा नहीं समझा जाता था। इसी प्रकार ग्रीन नामक एक महिला 'द ऐनल्स आव शुनवर्गकोटा फैमिली' शीर्षक रचना पढ़ना चाहती थी, किंतु जब उसे मालूम हुआ कि यह रचना उपन्यास है, तो उसने अपना इरादा बदल दिया। फ्रांस में उपन्यास लिखना किसी ज़माने मे पाप समझा जाता था और उसे स्त्रियोचित गुणों के लिए घातक तथा मार्ग-भ्रष्ट करने वाला समझा जाता था। इसी प्रकार 'हकिलबरी फिन' और 'मोबी डिक' जैसी रचनाएँ बहुत दिनों तक न तो पढ़ी गईं और न उन्हें पुस्तकालयों मे स्थान मिला। गोपालराम गहमरी (जन्म १८५० ई०) कृत सुधारवादी उपन्यास 'नए बाबू' (१८६४ ई०) में 'न्यू एजूकेटेड' के उपन्यास सम्बन्धी दृष्टिकोण से हिन्दी समाज में उपन्यासों की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है—"बस, बस ! हुआ ! बहुत हुआ !! उपन्यास लिखने का ढकोसला करके बैठा है···उपन्यास लिखने बैठा है या खाली घनचक्कर है, उपन्यास में क्या-क्या बातें होती हैं जानता भी है। या यों ही कलम उठाकर दौड़ पड़ा। थोड़े-से जुट्टी और काँटेदार गुलाब लगाकर सब कण्टकमय कर दिया, यही उपन्यास कहता है। उपन्यास में मधुरहासिनी मनोरमा का मकरन्द चाहिए, कहाँ है ? कलित कपोलिका (कलस सम्भवा, उन्नत उरोजा) का करुण कीर्तन कहाँ है ? गाढ़े रसमाते, सुवासमय पुष्पों से सराबोर पुष्पोद्यान संस्कारमय सुगन्ध समीर का सनासन चाहिए, कहाँ है ? एक लाज की गठरी सिर पर लादे मुख छिपाये स्त्री दिखाकर उस पर चार लात बरसा दिये उपन्यास हो गया ?" इस पर सुधारवादी व्यंग्य करता हुआ कहता है—"नहीं साहब, नहीं, बाबूजी नहीं। न्यू एजुकेटेड नहीं। आप कहते हैं वही सही। सब-कुछ लीजिए। लेकिन सुनिए तो ऋतु से चालिए, अभी बैसाख का विलम्ब है। वियोगी दूर बसता है। इस छोटे से उजाड़ पुरवा में आपको हम मैना, तौकी, गफ़ूरन, सुन्दर जान और गुलबदन कहाँ से ला दें। संतोष न हो तो, बेताब हुए जाते हो तो, आइये इधर आइये, यह देखिए, सीधे हमारे साथ चले आइये, देखिये क्या

ररसता है।" (पृष्ठ ११-१२)

अस्तु, उपन्यास के पठन-पाठन और उसे समाज का एक उपयोगी साधन बनाने के लिए एक व्यापक दृष्टिकोण की आवश्यकता थी। सौभाग्यवश उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के हिन्दी समाज में इन दोनों गुणों का पूर्ण अभाव नहीं था। इसलिए उपन्यास और उसके चारों ओर के समाज में सम्बन्ध स्थापित होते देर नहीं लगी। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि हिंदी उपन्यास-साहित्य का जन्म पुनरुत्थानकालीन भावना के फलस्वरूप उत्पन्न नवीन चेतना और सुधारवादी आंदोलनों की गोद में हुआ। इस दृष्टि से 'उपन्यास' नाम भी सार्थक सिद्ध हुआ क्योंकि यद्यपि 'उपन्यास' शब्द प्राचीन है, तो भी उसका प्रयोग नितांत नवीन और आधुनिक है। कुछ विद्वानों का मत है कि हिंदी के शब्द 'उपन्यास' का प्रयोग संस्कृत के 'उपन्यास' से ही नहीं वरन् कुछ अन्य भारतीय भाषाओं मे प्रचलित प्रयोग से भिन्न है। उसके कथनानुसार तेलुगू तथा दक्षिण भारत की अन्य भाषाओं में यह शब्द उसी अर्थ में प्रयुक्त होता है जिस अर्थ में हिंदी में 'व्याख्यान' 'वक्तृता' आदि शब्द प्रचलित हैं। 'उपन्यास' शब्द का दाक्षिणात्य प्रयोग उत्तर भारत के प्रयोग की अपेक्षा प्राचीन प्रयोग के अधिक निकट है। कुछ भारतीय भाषाओं मे अंग्रेजी के शब्द 'नॉवेल' के स्थान पर 'नॉवल' शब्द गढ़ लिया गया है। दोनों का अर्थ 'नया' अथवा 'ताजा' है। इससे उपन्यास की प्रकृतिगत विशेषता का सर्वोत्तम परिचय प्राप्त होता है। हिंदी में 'उपन्यास' शब्द का प्रयोग उपन्यास साहित्य के जन्म-काल अर्थात् उन्नीसवीं शताब्दी से ही मिलता है। 'उपन्यास' शब्द के अर्थ और उसकी प्रकृति के सम्बन्ध में किशोरीलाल गोस्वामी (१८६५-१९३२) का एक कथन विचारणीय है। अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'प्रणयिनी परिणय' (१८९०) के उपोद्घात में भारत को सब विद्याओं की खान बताते हुए उनका कहना है—"जिस प्रकार साहित्य के प्रधान अंगों में 'नाटक' का प्रचार प्रथम यहाँ ही हुआ था, उसी तरह 'उपन्यास' की सृष्टि प्रथम-प्रथम यहाँ ही हुई, यह अयौक्तिक नहीं है। परंतु किसी-किसी महाशय का यह कथन है कि उपन्यास पूर्व समय में यहाँ प्रचलित नहीं था, वरन् अंग्रेजों की देखा-देखी लोगों ने नॉवेल के स्थान पर उपन्यास की कल्पना कर ली है, इत्यादि। परंतु उन महात्माओं को प्रथम इसकी मीमासा कर लेनी चाहिए क्योंकि उपन्यास उप, नी-उपसर्ग पूर्वक आस धातु इन शब्दो से बना है यथा (उप) समीप (नी) न्यास (आस) रखना अर्थात् इसकी रचना उत्तरोत्तर आश्चर्यजनक एवं कुछ छिपी हुई कथा क्रमश: समाप्ति मे प्रस्फुटित हो।'

अपने इस कथन की पुष्टि के लिए उन्होंने 'दशकुमारचरित', 'वासवदत्ता,' 'श्रीहर्ष चरित', 'कादम्बरी' आदि का उल्लेख किया है, वास्तव में जैसा कि अभी-अभी उल्लेख किया जा चुका है 'उपन्यास' शब्द संस्कृत में मिलता अवश्य है, परंतु गोस्वामी ने उसका जिस प्रकार प्रतिपादन किया है उससे उसका

आधुनिक साहित्यिक रूप स्पष्ट नहीं होता। उनका कथन अमरकोष के 'उपन्यासस्तु वाङ्मुखम्' अर्थात् बात आरंभ करने के दो नाम, उपन्यास (आरंभ) और वाङमुख (भूमिका) पर आधारित है। संस्कृत में 'उपन्यास' शब्द का प्रयोग 'निकले हुए वचन' के अर्थ में भी हुआ है। सच तो यह है कि स्वयं किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास ही 'रचना उत्तरोत्तर आश्चर्यजनक एवं कुछ छिपी हुई कथा क्रमश समाप्ति में स्फुटित हो' की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। इससे 'उपन्यास' की आधुनिकता पर प्रकाश नहीं पड़ता। आधुनिक उपन्यास जहाँ एक ओर पुरानी कथाओं और आख्यायिकाओं से भिन्न है, वहाँ दूसरी ओर वह केवल अपने शब्दार्थ 'उप= पास, न्यास=रखना' द्वारा यह भी सूचित करता है कि लेखक पाठक के निकट कुछ रखना चाहता है, पाठक के निकट कोई नवीन बात या मत प्रकट करना चाहता है। उसकी यह विशिष्टता आधुनिक काल की देन है। उपन्यासकार मध्ययुगीन धर्माधिकारी और नैतिक उपदेश देने वाले गुरु का आधुनिक उत्तराधिकारी है।

मानव-जीवन की समग्रता एवं यथार्थ परिवेश ही उपन्यासों में चित्रित होते है और एक विराट कैन्वेस में युगीन जीवन एवं समकालीन जीवन-चिंतन के विविध पक्ष उसमें कलात्मक अभिव्यक्ति पाते हैं। इस दृष्टि से देखा जाए, तो उपन्यास और मानव-जीवन में अन्तर नहीं रह जाता। वस्तुतः अच्छे उपन्यासों की यह पहचान ही है कि उसके पठन-पाठन में किसी कल्पित कथा का नहीं, अपने नित्य-प्रति के देखे और जीए जाने वाले जीवन का आभास हो। हिन्दी में ही नहीं सब देशों के उपन्यास साहित्य के लिए श्रेष्ठता की यही कसौटी स्वीकार की गई है। टालसटाय, दास्तावस्की, चेखव, गोगोल, श्लोखोव, जान स्टाइनबेक, बोरिस पास्तरनाक, प्रेमचन्द आदि के उपन्यासों को पढ़ते समय यही प्रतीत होता है, जैसे हम स्वयं उपन्यास में वर्णित जीवन में साँस ले रहे हैं और उसके पात्रों के दुःख-सुख के स्वयं भोक्ता हैं।

यह बात तो समझ में आती है कि उपन्यास केवल मनोरंजन के साधन नहीं है, पर जब कुछ लोग यह कहते हुए सुने जाते हैं कि उपन्यासों का काम जीवन के सिद्धान्तों की शास्त्रीय व्याख्या एवं विश्लेषण कर एक आदर्श प्रस्तुत करना है, तो हँसी आए बिना नहीं रहती। जहाँ तक मैं समझता हूँ, उपन्यास का काम मनोरंजन के साथ-साथ जीवन के यथार्थ, उसकी कटुता एवं भयंकरता से परिचित कराकर स्वस्थ दृष्टि देना है, कोई उपदेश (प्रीचिंग) देना नहीं। उपदेश देना किसी संस्था, सुधारक या किसी सम्प्रदाय का उद्देश्य हो सकता है, उपन्यास का तो निश्चित रूप से नहीं। उपन्यास जब संदेश देने और आदर्श स्थापित करने की धुन में रचे जाते हैं, तो वे अपना वास्तविक अर्थ खो देते हैं, उनका महत्त्व समाप्त हो जाता है। पिछली कई दशाब्दियों में आदर्श और सुधार करने की झोंक में हर वाक्य में जीवन का सत्य घोषित करने वाले अनेक नए-पुराने कथा-

कारों की यही नियति रही है कि पाठकों ने उन्हें पूर्णतया तिरस्कृत किया। प्रेमचन्द ने यदि सुधार और आदर्श की भावना मन में रखी थी, तो उन्होंने यथार्थ को भी कहीं तिरस्कृत नहीं किया था। वस्तुतः कला का महानतम आदर्श यही है कि उपन्यासकार यथार्थ घटनाओं का संयोजन इस प्रकार करे कि आदर्श स्वयं ही उसमें ध्वनित हो और उपन्यासकार को अपनी ओर से एक शब्द भी कहने की आवश्यकता न पड़े। कला का यह सर्वोच्च आदर्श 'गोदान', 'त्यागपत्र', 'शेखर : एक जीवनी', 'सुबह अंधेरे पथ पर' तथा 'मैला आंचल' आदि कृतियों में स्पष्टतया देखा जा सकता है।

हिन्दी उपन्यास आदर्शवादी और सुधारवादी भावना लेकर ही आया था। वह संक्रांति का युग था और प्रत्येक दिशा में सुधार की तीव्र आवश्यकता का अनुभव किया जा रहा था। पश्चिमी विचारधारा एवं सम्पर्क के कारण यह आकुलता और भी तीव्र हो गई थी और अंग्रेज़ी पढ़ा-लिखा समाज तो रातों-रात सामाजिक रूप-विधान में आमूल-चूल परिवर्तन कर देना चाहता था। यह तो नहीं कहा जा सकता कि पश्चिमी आचार-व्यवहार का पूरी तरह स्वागत किया गया और सभी ने सर्व-सम्मति से भारतीय समाज में उसे प्रचलित करने के लिए प्रयास आरम्भ किया, पर यह बात तो निर्विवाद रूप से स्वीकारनी होगी कि भारतीय समाज और धर्म से रूढ़ियों को समाप्त कर एक प्रगतिशील दृष्टिकोण की स्थापना करने के प्रति शिक्षित समाज प्रयत्नशील था। चूँकि साहित्य और समाज का घनिष्ठ संबंध है, इसलिए एक ऐसे साहित्यिक माध्यम की आवश्यकता का अनुभव किया जाने लगा जिससे आदर्श और सुधार की इन भावनाओं को दूर-दूर तक पहुँचाया जा सके। हिंदी उपन्यास-साहित्य के आविर्भाव के मूल में इस पृष्ठभूमि को ध्यान में रखना आवश्यक है।

नाटक और कविता आदि अन्य साहित्यिक विधाओं की भाँति भारतेन्दु ने उपन्यासों के क्षेत्र में भी नेतृत्व प्रदान किया और अपने सहयोगी लेखकों को इस दिशा में प्रवृत्त किया। यद्यपि उन्होंने स्वयं तो कोई मौलिक उपन्यास नहीं रचा (कहा जाता है कि अपने अन्तिम दिनों में उन्होंने इस दिशा में प्रयत्न आरम्भ किया था), पर 'पूर्णप्रकाश और चन्द्रप्रभा' नाम से एक मराठी उपन्यास का छायानुवाद किया था। फिर १८७१ में लिखित और १८७७ ई० में प्रकाशित 'भाग्यवती' उपन्यास सामने आता है, जिसे कथा-संगठन के कारण कुछ लोग उपन्यास मानने को तैयार नहीं हैं। उसमें कथा और उपदेश का सम्मिश्रण है। लाला श्रीनिवासदास कृत 'परीक्षागुरु' (१८८२) को आधुनिक शैली का प्रथम उपन्यास माना जा सकता है। यद्यपि प्रथम दोनों ही उपन्यासों में शिल्पगत दुर्बलताएँ है, पर ऐतिहासिक विकासक्रम की दृष्टि से दोनों उपन्यासों का अपना-अपना महत्त्व है।

इस युग के उपन्यासों में, जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है, आदर्श और सुधार की मूल भावना लक्षित होती है, जो युग की माँग थी। इन उपन्यासों के विषय लगभग एक-से हैं, जैसे परिवार में किसी शिक्षित बहू के आ जाने से उत्पन्न संघर्ष और फलस्वरूप पारिवारिक कटुता और अशांति का चित्रण या चरित्र-हीनता एवं आदर्श तथा पवित्र प्रेम को कलुषित करने वालों का बुरा अंत और आदर्श की स्थापना। धर्म से च्युत होने वालों और अपने देश की मान-मर्यादा भूलने वालों के भी दुष्परिणाम अनेक उपन्यासों में चित्रित किए गए हैं। अनेक उपन्यासों के विषय नारी-शिक्षा से सम्बंधित हैं, जिनमें से अधिकाश लेखकों का मत यही है कि नारियों को पाश्चात्य शिक्षा देना व्यर्थ है। जहाँ तक शिल्प का प्रश्न है, इस युग के उपन्यासों में लेखकों का ध्यान पाठकों का मनोरंजन करना और उन्हें शिक्षा देना जितना रहा है, उतना कला-संगठन के प्रति नहीं। यही कारण है कि प्रत्येक वाक्य में जीवन का सत्य यांत्रिक ढंग से आरोपित कर दिया गया है और जहाँ ऐसा सम्भव हो सका है वहाँ लेखक कथानक के प्रवाह एवं पात्रों की गति को किनारे कर स्वयं बीच में उपस्थित हो जाता है और 'तो हे पाठको' या 'हे सज्जनो' के सम्बोधन से अपना भाषण प्रारम्भ कर देता है। पात्रों के चरित्र-चित्रण में भी कोई विशेष स्वाभाविकता इस युग के उपन्यासों में लक्षित नहीं होती। सामाजिक उपन्यासों के पात्र जीवन के यथार्थ से लिए अवश्य गए हैं पर उन्हें अपने मंतव्य की पूर्णता के लिए इन लेखकों ने इतना तोड़ा-मरोड़ा है कि उनका अपना कोई व्यक्तित्व ही नहीं रह गया है और वे पूर्णतया निर्जीव-से प्रतीत होते हैं। कहीं-कहीं तो उनका स्वरूप यान्त्रिक प्रयासों के बावजूद स्पष्ट नहीं हो पाता और वे धुँधले रेखाचित्र मात्र रह गए हैं। इन पात्रों के चरित्र चित्रण में नाटकीयता तो कहीं नाममात्र को भी नहीं है। शिल्प की दृष्टि से इस युग के उपन्यासों में निम्नलिखित रूप प्राप्त होते हैं—

१. आत्म-कथात्मक शैली : 'चन्द्रकला' (१८९३), 'संसार चक्र' (१८९९) आदि।
२. आत्मचरितात्मक : 'दीनानाथ व गुहचरित्र' (१८९९) आदि।
३. आख्यायिका शैली : 'आश्चर्य वृत्तान्त' (१८९३ ई०) आदि।
४. विवरणात्मक शैली : 'नूतन ब्रह्मचारी' (१८८६ ई०), 'त्रिवेणी' (१८८९ ई०) आदि

इस युग के उपन्यासों को शैशवावस्था के उपन्यास कहा जाए तो अत्युक्ति न होगी, जिसे विकसित करने का कार्य प्रेमचन्द ने किया। पता नहीं हिन्दी साहित्य में यह भ्रम किसने उत्पन्न किया कि प्रेमचन्द के आने से हिंदी उपन्यास-साहित्य को नई दिशा प्राप्त हुई। वास्तव में कहना यह चाहिए था कि पूर्ववर्ती उपन्यास-साहित्य की प्रेमचन्द एक विकसित कड़ी थे। उनसे पहले के उपन्यास-

कारों ने जो सामाजिक चेतना प्रदर्शित की थी वही चेतना प्रेमचन्द के प्रारम्भिक और कुछ बाद के उपन्यासो में दृष्टिगोचर होती है । श्रद्धाराम, भारतेन्दु हरिश्चंद्र, श्रीनिवासदास, राधाकृष्ण दास आदि के उपन्यासों की परम्परा में ही प्रेमचद के 'प्रतिज्ञा', 'वरदान', सेवासदन', 'निर्मला' आदि उपन्यास रखे जा सकते हैं। अंतर केवल समय के व्यवधान का है। प्रेमचद का महत्त्व इस बात मे नहीं कि उन्होंने किसी नवीन परम्परा को जन्म दिया, वरन् इस बात में है कि पहले से चली आ रही परम्परा को ही उन्होंने काल-गति के अनुसार विकसित किया; उसकी परिधि विस्तृत की। यही प्रेमचंद का विशाल फलक है। पिछली परम्परा का निर्वाह करते हुए 'प्रेमाश्रम' में उन्होंने सर्वप्रथम नई ज़मीन पर पैर रखा। कलात्मक दृष्टि से प्रेमचंद ने पिछले खेवे के उपन्यासकारो की अपेक्षा अधिक मौलिकता अवश्य प्रकट की। उन्होने युग के अनुसार हिन्दी उपन्यास-साहित्य को व्यापकता प्रदान की। जीवन की समास्याओं के विविध पक्षों को स्पष्ट करने का प्रयास प्रेमचंद के उपन्यासों में ही मिलता है जो अपने युग के एक प्रकार से दिशा-निर्देशक है। उन्होंने हिंदी उपन्यासों को कल्पना से यथार्थ की ओर मोड़कर जीवन के अधिक निकट लाने का स्तुत्य प्रयास किया और रोमांस तथा केवल मनोरंजन को छोड़कर सामान्य जीवन को अपने उपन्यासो में यथार्थ अभिव्यक्ति दी। उनके समकालीन सभी उपन्यासकारों ने इस परम्परा को गतिशील करने में हर सम्भव प्रयास किया, जिसके अच्छे परिणाम हुए और हिन्दी उपन्यास-साहित्य में एक संक्रांति की अवस्था लक्षित होती है। यहाँ यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि प्रेमचन्द अपने साहित्य द्वारा वर्ग-वैषम्य, आर्थिक शोषण, सामाजिक असमानता, पूंजीवादी संस्कृति एवं बूर्जुवा मनोवृत्ति के विरुद्ध जनमत तैयार करना चाहते थे और उसे एक ऐसी व्यापक क्रान्ति (खूनी नही) के लिए तैयार करना चाहते थे, जिससे प्रगतिशील समाज की स्थापना हो सके और उन्नति करने का सबको समान अवसर प्राप्त हो सके। उनके समकालीन सभी लेखकों का इस दिशा में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। इन सभी उपन्यासकारों की रचनाओं में शिल्प की वह विविधता लक्षित नही होती, जो बाद के उपन्यासों में मिलती है। पिछले युग की भांति इस युग के भी अधिकांश उपन्यास वर्णनात्मक शैली में ही लिखे गए हैं। पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र कृत 'चन्द हसीनों के खतूत' (१९२३ ई०) अवश्य ही पत्र-शैली में लिखा गया है। कुछ उपन्यास आत्मकथात्मक शैली में भी उपलब्ध होते हैं। इस काल के उपन्यासों में मनोवैज्ञानिकता, कलात्मक प्रौढ़ता और स्वाभाविकता की यथार्थता के प्रति लेखकों का निश्चित आग्रह लक्षित होता है और अपरिपक्वता के स्थान पर प्रौढ़ता प्राप्त होती है।

प्रेमचन्द ने जिस सशक्त परम्परा का सूत्रपात किया था वह आगे भी गतिशील

रही और यशपाल ('दादा कामरेड', 'मनुष्य के रूप', 'झूठा सच'); अमृतलाल नागर ('महाकाल', 'बूंद और समुद्र'); भगवतीचरण वर्मा ('टेढ़े मेढ़े रास्ते', 'चित्रलेखा,' 'भूले बिसरे चित्र') तथा रांगेय राघव ('घरौंदे', 'हुजूर,' 'सीधा सादा रास्ता') आदि उपन्यासकारों द्वारा जीवित रही और परिवर्तित परिस्थितियों में युगीन भाव-बोध के साथ निरंतर विकसित होती रही। इन सभी उपन्यासकारों की कृतियों पर प्रेमचन्द का प्रभाव स्पष्टतया देखा जा सकता है।

इसी सामाजिक परम्परा के साथ आत्मपरक धारा का भी सूत्रपात दृष्टि-गोचर होता है, जिसमें प्रमुख रूप से जैनेन्द्रकुमार ('त्यागपत्र'), 'अज्ञेय' ('शेखर : एक जीवनी') तथा इलाचन्द्र जोशी ('निर्वासित', 'प्रेत और छाया') आदि के उपन्यास आते हैं। फ्रॉयड, एडलर तथा युंग आदि विदेशी मनोवैज्ञानिकों के सिद्धांतों से प्रभावित होकर जोशीजी ने अपनी रचनाओं का निर्माण किया। शिल्प की दृष्टि से इन लेखकों ने वास्तव में अत्यंत श्लाघनीय कार्य किया और हिंदी में शिल्प सम्बन्धी विविधता स्थापित की। इन उपन्यासों मे स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर जाने की प्रवृत्ति लक्षित होती है। लेकिन उनमें खटकने वाली जो बात सबसे अधिक है, वह इन लेखकों का पलायनवादी दृष्टिकोण है। इन लेखकों की अधिकाश रचनाओं में जीवन का यथार्थ नहीं कल्पनाशील परिस्थितियों एव अवचेतन मन की विकृतियों, वासनामूलक प्रवृत्तियों और अहं का ही चित्रण किया है। इन रचनाओं में जो व्यक्ति चित्रित हुआ है, वह सेक्स के अभिशाप से ग्रस्त है और उसके जीवन की विभिन्न समस्याओं का समाधान सघर्ष और जूझने में नहीं, नारी की गोद में है।

और तो और यशपाल ने, जो हमेशा सामाजिक क्रांति एवं रूढ़ मान्यताओं के प्रति विद्रोह का झण्डा बुलंद करते रहे हैं, अपने नवीनतम उपन्यास 'क्यों फँसे, (१९६८) में सेक्स का इतना नग्न चित्रण किया है कि वह नारी-पुरुष के सेक्स सम्बन्धों का साहित्यिक रूपांतर ही बन गया है, जो फुटपाथ या विद्यार्थियों के हॉस्टलों में बेशुमार ढंग से हाथों-हाथ बिकने वाली सस्ती और कुत्सित पुस्तकों से भिन्न नहीं है। सेक्स चित्रण की अतिरंजना यशपाल की कला को प्रारम्भ से ही जिस रूप में खण्डित करती रही है, यह उसका चरमोत्कर्ष है। सेक्स-सम्बन्धी स्वतन्त्रता और नैतिक शिथिलता को मान्यता देने में शायद अभी भारतीय समाज को शताब्दियाँ लग जाएँगी और जब जीवन की कठोर विषमताओं, भूख-प्यास, शोषण, वैषम्य एवं युद्ध की आशंका से संत्रस्त मानवता की कठोर बहु-विध समस्याओं का समाधान सेक्स और अहं के दायरे में अन्वेषित होता है तो एक ऐसा प्रश्नचिह्न सामने उभरता है जिसके बाद हर चीज शून्य में विलीन हो जाती है।

स्वाधीनता के पश्चात् अनेक नई समस्याएँ सामने आईं। विश्व के दूसरे

राष्ट्रों की भाँति यहाँ केवल दासता का ही अंत नहीं था और न एक शासन सत्ता के स्थान पर नई शासन सत्ता की स्थापना की स्थिति नितांत भिन्न थी। अंग्रेजो ने न केवल आर्थिक दृष्टि से ही यहाँ की व्यवस्था को विशृंखलित कर दिया था, वरन् दो प्रधान जातियों, हिंदू और मुसलमानों के मध्य विभाजन रेखा खींचकर घृणा, विद्वेष एवं वैमनस्य की भयंकर भावनाएँ फैला दी थीं। स्थिति उलझती गई। आज़ादी के तुरंत बाद हिंदू-मुस्लिम दंगों, आगज़नी की दर्दनाक घटनाओं औरतों की अस्मत् एवं इज्जत की खुली लूट और भीषण नर-हत्याओं ने ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी थी, जिसने नई उभरने वाली पीढ़ी के सामने अंधेरा फैला दिया था। एक ओर तो उनके सामने दिशाएँ स्पष्ट नहीं थी, दूसरी ओर उनकी नसों में दासता की भावनाओं को झंझोड़ता हुआ रक्त खौल रहा था। उसने स्थिति को समझने और उसी के अनुसार गतिशील होने का प्रयत्न किया। इस युग-बोध और परिवर्तित परिस्थितियों की कठोरता ने नई पीढ़ी को जो नया भाव-बोध प्रदान किया, वह सामाजिक था और अपूर्व जिजीविषा का भाव लिए हुए था। इस काल के सभी नए लेखकों में सामाजिक यथार्थ को पहचानने का आग्रह, पलायनवादी प्रवृत्तियों को नकारने का प्रयास और परिवर्तन की आकुलता स्पष्टतया परिलक्षित होती है।

लेकिन इसके साथ ही यह भी हमें बिना हिचक स्वीकारना होगा कि नव-लेखन को लेकर नयी पीढ़ी में जितना शोर-शराबा है और जितने लम्बे-चौड़े वक्तव्य प्रायः दिए जाते है, उतनी सत्यता लेखन मे नहीं है। यह ठीक है कि लेखन सामाजिक संचेतना से प्रारम्भ हुआ और शीघ्र ही वह व्यक्ति-केन्द्रित ही नहीं हुआ, वरन् केवल नारी-पुरुष सम्बन्धों, वह भी विशेषतया सेक्स-तनाव एवं पत्नी के साथ सामंजस्य न स्थापित कर सकने की 'महान् ट्रेजेडी' या प्रेमिका के लिए स्वतन्त्रता संग्राम के सेनानियों की प्राण-आहुति देने से भी बड़ी शहीदाना मुद्राओं तक सीमित हो गया। ये मुद्राएँ बड़ी रोचक है और 'मन्त्रबिद्ध' (राजेन्द्र यादव), 'प्रथम फाल्गुन' (नरेश मेहता), 'न आने वाला कल' (मोहन राकेश), 'रुकोगी नहीं राधिका?' (उषा प्रियंवदा) तथा 'कितने चौराहे' (फणीश्वर-नाथ रेणु) में विभिन्न स्तरों पर देखी जा सकती हैं। इनमें सामाजिक सन्दर्भों मे नारी जीवन की विसंगतियाँ उतना महत्त्व नहीं प्राप्त कर सकी हैं, जितना व्यक्तिगत स्पष्टीकरण, जैसे लेखक किसी को सफाई दे रहा हो और अपने को निरपराध साबित करने की कोशिश कर रहा हो। इसके विपरीत ऐसे भी उपन्यास हैं जिनमें नारी-जीवन की बहु-पक्षीय समस्याएँ और उसके मिसफिट होने की यथार्थता अत्यन्त सशक्त ढंग से स्पष्ट हुई है। सुरेश सिनहा के प्रथम उपन्यास 'एक और अजनबी' (१९६३) में मूल सूत्र यह है कि 'पहले नारी अपने पति के लिए सजती थी तो आज सारे समाज के लिए इस मे नहीं

सूक्ष्म मार्मिकता के साथ नारी की विवशता और पुरुष की पाशविकता के सम्मुख उसकी ट्रेजेडी सामाजिक धरातल पर अभिव्यक्त हुई है, जिसमें गम्भीर अर्थवत्ता है। इसी प्रकार नरेश मेहता के 'यह पथ बन्धु था' (१९६२) में सरस्वती के माध्यम से स्त्री और परिवार की समस्या भी बड़ी यथार्थता के साथ अभिव्यक्त हुई है। इन दोनों उपन्यासों की तुलना में 'मन्त्रबिद्ध' और 'न आने वाला कल' की तुलना बेमानी है।

शिल्पविधि के विकास की दृष्टि से यदि स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद के उपन्यासों की परख करें तो बहुत निराशा नहीं होती। पिछले युग में यदि शिल्प की नवीनता अनेक रूपों में लक्षित हुई, तो इस काल में उसका और भी परिमार्जन हुआ। जितनी सूक्ष्म संवेदनाएँ इस काल में प्राप्त होती हैं, वह हिन्दी उपन्यासो के विकास को देखते हुए एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। फणीश्वरनाथ रेणु, धर्मवीर भारती, नरेश मेहता, निर्मल वर्मा, मोहन राकेश तथा सुरेश सिनहा आदि ऐसे अनेक महत्त्वपूर्ण उपन्यासकार स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद के काल के हैं, जिन्होंने एक ओर शिल्प का तादात्म्य मानव-जीवन के विविध पक्षों से किया है, तो दूसरी ओर मानव के अंतर्जगत में प्रवेश करके अन्तः और बाह्य का सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है। इन उपन्यासकारों की कोई भी महत्त्वपूर्ण रचना उठा ली जाए ('मैला आंचल', 'सूरज का सातवाँ घोड़ा', 'यह पथ बंधु था,' 'वे दिन,' 'अंधेरे बंद कमरे' तथा 'सुबह अंधेरे पथ पर')' तो यह बात बहुत साफ हो जाती है।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद के हिंदी उपन्यासों में शिल्प-सम्बन्धी एक उल्लेखनीय विशेषता दृष्टिगोचर होती है। यहाँ स्वस्थ-अस्वस्थ दृष्टि के विवाद में पड़े बिना यह निश्चित् रूप से कहा जा सकता है कि उपन्यासों में निहित वर्णनात्मकता में यह दृष्टि सूक्ष्म-से-सूक्ष्मतर धरातल पर अभिव्यक्त हुई है, जो कहीं-कहीं बौद्धिक हो गई है, तो कहीं-कहीं स्पष्ट भी। पर जहाँ वह संतुलित है, वहाँ वह उपन्यास पर कहीं भी आरोपित नहीं प्रतीत होती।

१. **वर्णनात्मक शैली**—आरम्भिक काल से आज तक लेखकों की प्रिय शैली वर्णनात्मक रही है, जिसमें श्रद्धाराम फिल्लौरी कृत 'भाग्यवती' (१८७७), प्रेमचंद का 'गोदान' (१९३६), वृन्दावनलाल वर्मा कृत 'झांसी की रानी' (१९४७), भगवतीचरण वर्मा का 'भूले-बिसरे चित्र' (१९५८), यशपाल कृत 'झूठा सच' (१९५८-६०), अमृतलाल नागर का 'बूंद और समुद्र' (१९६५), नरेश मेहता कृत 'यह पथ बंधु था' (१९६२), मोहन राकेश का 'अंधेरे बंद कमरे' (१९६१), राजेन्द्र यादव का 'मन्त्र बिद्ध' (१९६७), तथा उषा प्रियंवदा कृत 'रुकोगी नहीं राधिका?' इसी शैली के प्रमुख उपन्यास हैं। परंतु पहले के वर्णनात्मक शैली में लिखे गए उपन्यासों की तुलना में बाद के लिखे गए

वर्णनात्मक उपन्यासों में स्पष्ट अन्तर यह है कि उनमें स्थूलता के स्थान पर सूक्ष्मता का आधिक्य है। पात्रों के बाह्य व्यक्तित्व के स्थान पर आंतरिक भावनाओं एवं द्वंद्वों को अधिक स्पष्ट कर चरित्र की समग्रता पर अधिक बल दिया गया है।

२. **पत्रात्मक शैली**—'चंद हसीनों के खतूत' (उग्र)।

३. **फोटोग्रैफिक शैली**—'मैला आंचल' तथा 'परती परिकथा' (रेणु) आदि।

४. **आत्मकथात्मक शैली**—'लज्जा' (इलाचंद्र जोशी), 'त्यागपत्र' (जैनेन्द्र कुमार), 'सुबह अंधेरे पथ पर' (सुरेश सिनहा) तथा 'न जाने वाला कल' (मोहन राकेश) आदि। स्वतंत्रता-पूर्व लिखे गए आत्मकथात्मक शैली के उपन्यासों की तुलना में स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद के काल में इस शैली में लिखे गए उपन्यासों में विशिष्ट अंतर यह है कि जहाँ पहले कथा कहने वाला पात्र दूसरे के चरित्रों पर ही प्रकाश डालता था, उसका स्वयं का चरित्र बहुत स्पष्ट नहीं हो पाता था। दूसरों के चरित्र का भी केवल बाह्य पक्ष ही उद्घाटित हो पाता था, यहाँ तक कि 'लज्जा' तथा 'त्यागपत्र' में भी यह बात स्पष्टतया देखी जा सकती है। किंतु स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद के काल में लेखकों ने ऐसी सूक्ष्म प्रतिक्रियाएँ प्रस्तुत कीं, ऐसे स्वाभाविक संकेत एवं प्रतीक उपस्थित किए, जिससे इन पात्रों का पूर्ण व्यक्तित्व प्रकाश में आता है और उनके अंतः तथा बाह्य का संघर्ष अपनी पूरी यथार्थता के साथ उद्घाटित होता है। यही नहीं स्वयं कथा कहने वाला पात्र भी अपनी अच्छाइयों-बुराइयों का मार्मिक विश्लेषण करता चलता है जिससे कि उसका भी व्यक्तित्व समग्र रूप में सामने आता है। 'त्यागपत्र' में जस्टस पी० दयाल का चरित्र एकांगी है, जबकि 'सुबह अंधेरे पथ पर' के राजू तथा 'न आने वाला कल' के नरूला के बारे में कोई भी ऐसी बात नहीं है, जो रहस्यमय हो और जो उनके व्यक्तित्व को पूर्ण प्रकाशित न करे।

५. **चेतन प्रवाह शैली**—इस शैली में शुद्ध रूप से हिंदी में कोई उपन्यास जेम्स जायस के 'यूलीसेस' या 'ए पोर्टेट ऑव द आर्टिस्ट एज़ ए यंग मैन' तथा वर्जीनिया वुल्फ के उपन्यासों की भांति नहीं लिखा गया है। इसके आंशिक प्रयोग 'शेखर : एक जीवनी' (अज्ञेय), 'चलते-चलते' (भगवतीप्रसाद बाजपेयी) तथा 'एक और अजनबी' (सुरेश सिनहा) आदि उपन्यासों में प्राप्त होते हैं।

६. **डायरी शैली**—'जयवर्द्धन' (जैनेन्द्र कुमार), 'अजय की डायरी' (देवराज), 'शह और मात' (राजेन्द्र यादव) तथा 'एक और अजनबी' (सुरेश सिनहा) नामक चार उपन्यास इस शैली में प्राप्त होते हैं। इस शैली के उपन्यासों में सतर्कता की बड़ी आवश्यकता होती है। पात्रों की डायरियाँ नित्य-प्रति के जीवन में लिखी जाने वाली डायरियों के समान ही सहज एवं स्वाभाविक होनी चाहिए। इस दृष्टि से सुरेश सिनहा का उपन्यास इन चारों में अधिक सफल है,

क्योंकि उसमें बड़ी यथार्थता है। जहाँ डायरी के पृष्ठ कुछ लम्बे भी हो गए हैं, वहाँ पर्याप्त प्रमाण दिए गए हैं, जो विश्वसनीय हैं। शेष तीनों उपन्यासों में डायरी शैली का बहाना लेकर सब-कुछ आरोपित कर दिया गया है। उनमें ऐसा लगता है कि पात्रों को सिवाय डायरी लिखने के जीवन में कोई और काम नहीं है। वे जीवन में तो निष्क्रिय हैं और दिन-रात बैठकर लम्बी-चौड़ी डायरियां लिखते रहते है। उनके जीवन का संघर्ष केवल डायरी के पृष्ठों में है, कर्म-क्षेत्र मे नहीं।

७. **कहानियों की पंचतंत्रात्मक शैली**—'सूरज का सातवाँ घोड़ा' (धर्मवीर भारती) तथा 'बहती गंगा' (शिवप्रसाद मिश्र रुद्र)।

इधर नए उपन्यासों में प्रयुक्त शैलियों के साथ प्रारम्भ से हिंदी उपन्यासों मे प्रयुक्त शैली का ग्राफ बनाएँ तो कुछ इस प्रकार का होगा—

वर्णनात्मक शैली	आत्मकथात्मक शैली	आत्मचरितात्मक शैली	आख्यायिका शैली
(१८८६ ई०)	(१८९३ ई०)	(१८९९ ई०)	(१८९३ ई०)
पत्रात्मक शैली	चेतन प्रवाह शैली	कहानियों की पंचतंत्रात्मक शैली	
(१९२३ ई०)	(१९४४ ई०)	(१९५२ ई०)	
फोटोग्रैफिक शैली	डायरी शैली।		
(१९५४ ई०)	(१९५६ ई०)		

शिल्प-विकास का यह क्रम यहीं नहीं रुकेगा, हिंदी उपन्यासों की गौरव-शाली विकास-यात्रा को देखते हुए यह निश्चित है। जैसे-जैसे नए लेखक नवीन भावनाओं को और नवीनता लेकर सामने आते जाएँगे, वैसे-वैसे नए-नए शिल्प भी सामने आएँगे और भावी सम्भावनाओ के नए क्षितिज प्रकाश में आएँगे।

पिछले पच्चीस-तीस वर्षों में हिन्दी साहित्य में पहले कविता और फिर उपन्यास-कहानी ने जिस तेजी से करवट बदली है वह सर्वविदित है। आज पुरानी मान्यताओं पर, जीवन-गत दृष्टिकोण पर प्रश्न-सूचक चिह्न लग चुका है। देखना केवल यही है कि हिंदी उपन्यास ने नवीन कलात्मक बोध और नवीन एवं पुष्ट जीवन-दृष्टि ग्रहण करने में कहाँ तक सफलता प्राप्त की है। जिन उपन्यासों ने सफलता प्राप्त की है उन्हें उपलब्धि के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। हिंदी उपन्यास साहित्य आज समर्थ लेखकों के हाथों में सुरक्षित है, इसलिए इस सम्बन्ध में आतंकित होने का कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। कुछ वर्ष पूर्व पश्चिम में जिस प्रकार उपन्यास-विधा की निर्जीवता-सजीवता को लेकर वाद-विवाद चल पड़ा था, उस प्रकार के वाद-विवाद की हिन्दी में अभी आवश्यकता नहीं है।

औपन्यासिक परम्परा की प्रथम चरमोपलब्धि : 'गोदान'

प्रेमचन्द-साहित्य में ही नहीं, १९३६ ई० तक के हिन्दी उपन्यास-साहित्य में 'गोदान' का प्रकाशन एक महान् साहित्यिक घटना के रूप मे स्वीकारा गया था और उसके सम्बन्ध में यह मान्यता अब तक अक्षुण्ण बनी हुई है। प्रश्न यह उठता है कि उसकी इस महानता का कारण क्या है। कहा जाता है कि 'गोदान' कृषक जीवन का महाकाव्य है। कृषक जीवन का इतना सूक्ष्म, साथ ही विशदतापूर्ण चित्रण पहले न तो स्वयं प्रेमचन्द ने किया था और न हिन्दी के किसी अन्य उपन्यासकार ने। उपन्यास का शीर्षक भी उसे कृषक जीवन से सम्बद्ध करता है। किन्तु इतने पर भी 'गोदान' को केवल कृषक जीवन का महाकाव्य मानना मकान का एक खण्ड देखना है। उसमें और खण्ड भी हैं, जो ब्रिटिश भारत के जीवन की दृष्टि से कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। 'गोदान' के सम्बन्ध में एक तर्क यह भी उपस्थित किया जाता है कि इसमें कोई नेता नहीं है और होरी जीवन की ऊबड़खाबड़ पगडंडी पर परम्परागत धर्म और नीति के बीच डूबता-उतराता हुआ अपना रास्ता स्वयं बनाता है। जीवन के सारे संकट, सारी निराशाएँ उसे जीवन-संग्राम से विमुख नहीं करतीं। लेकिन यह तर्क भी बहुत पुष्ट नहीं है। और फिर 'गोदान' के अन्त में मालती और मेहता का चित्रण बहुत-कुछ प्रेमचन्द की पुरानी आदत के अनुरूप है। मालती और मेहता जिस ऊँचे आदर्श पर पहुँच जाते हैं, वह साधारण जीवन में दुर्लभ है। अत यह कहना कि 'गोदान' में 'नेतागीरी' बिलकुल नहीं है, ठीक नहीं जान पड़ता। इसी प्रकार आश्रमवादी आस्था का अभाव भी 'गोदान' की कोई ऐसी विशेषता नहीं है, जिसके कारण उसे हिन्दी की महान् कृतियों में स्थान दिया जाय। आश्रमवादी आस्था प्रेमचन्द के कुछ ही उपन्यासों में मिलती है—वह भी आस्था के रूप में नहीं, युग की माँग के रूप में। जीवन से चिपके हुए कलाकार और आर्य समाज से सम्बद्ध होने के कारण प्रेमचन्द ने अपने कुछ उपन्यासों में आश्रमों की स्थापना कराई हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। किन्तु उसे उनके

१ प्रेमचन्द 'गोदान' (१९३६) सरस्वती प्रेस

साहित्य का अपरिहार्य अंग नहीं माना जा सकता। महात्मा गांधी ने साबरमती आश्रम की स्थापना की थी तो प्रेमशंकर ने प्रेमाश्रम की स्थापना की। कला की दृष्टि से भी 'गोदान' कोई नया प्रयोग प्रस्तुत नहीं करता। वही दुहरा कथानक, वही चरित्र-चित्रण-पद्धति, वही आदर्शवादी दृष्टिकोण, वही वर्णन-प्रियता—सभी कुछ तो पुराना है। कला की दृष्टि से उसमें क्या नाविन्य है ? और यह कहना कि 'गोदान' में प्रेमचन्द का मानवतावादी दृष्टिकोण उभरा है, स्वयं प्रेमचन्द के साथ अन्याय करना है। जो बात वाल्ट ह्विटमैन के सम्बन्ध में कही जाती है, वही बात प्रेमचन्द के बारे में भी कही जा सकती है—

इसलिए मानवतावाद की दृष्टि से 'गोदान' की अपनी कोई निजी विशेषता नहीं है। वह तो प्रेमचन्द-साहित्य की सामान्य निधि है।

वास्तव में 'गोदान' का महत्त्व उपर्युक्त कारणों से उतना नहीं जितना उसे हिन्दी की १९३६ तक की औपन्यासिक परम्परा और ब्रिटिशकालीन भारतीय जीवन की गतिविधि के सन्दर्भ में देखने के कारण है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अपने आविर्भाव-काल से १९३६ तक हिन्दी उपन्यास ने जो-जो रूप धारण किए, उन सबकी चरमोपलब्धि 'गोदान' में दृष्टिगोचर होती है और इस प्रकार 'गोदान' को हिन्दी उपन्यास-साहित्य के इतिहास में सर्वप्रथम मील का पत्थर माना जा सकता है। प्रेमचन्द ने उसमें अत्यन्त कौशल और कलात्मक ढंग से उपन्यास-साहित्य की पूरी परम्परा को अपनी भुजाओं में समेट लिया है। इसी प्रकार अपने रचना-काल से पिछले ५०-६० वर्षों के ब्रिटिशकालीन भारतीय जीवन की धड़कनें भी 'गोदान' मे सुनाई पड़ जाती है। हम कुछ भी न पढ़ें, केवल 'गोदान' पढ़कर १९३६ तक के भारतीय जीवन की झांकी प्राप्त कर सकते हैं। निस्सन्देह आधी शताब्दी से अधिक की औपन्यासिक परम्परा और भारतीय जीवन की गतिविधियों को एक ही ग्रन्थ में समेटने का दुष्कर कार्य प्रेमचन्द जैसे प्रतिभाशाली व्यक्ति द्वारा ही सम्पन्न हो सकता था।

हिन्दी औपन्यासिक परम्परा की जो सशक्त एवं घनीभूत परिणति हमे 'गोदान' में दृष्टिगोचर होती है, उसका महत्त्व समझने के लिए उपन्यास के सम्बन्ध में हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जब नवशिक्षित मध्यम वर्ग ने पौराणिक परम्पराओं, अन्धविश्वासों और वाह्याडम्बरों एवं अनैतिक आचार-विचारों के स्थान पर मानवोचित उदारता, जीवनगत सत्य के अन्वेषण और नवीन मूल्यों तथा मानदण्डो की स्थापना का पुनीत प्रयास किया तो यह गुरुतर भार उपन्यास साहित्य ने अपने ऊपर लिया। कूपमण्डूकता और अन्धविश्वास के प्रति विद्रोह का वह साक्षात् प्रतीक है। फलतः साहित्य के अन्य रूपों की अपेक्षा उपन्यास में जीवन की यथार्थता, सत्यता, आवश्यकताएँ, एव व्यक्तित्व और मूल्यों का निरूपण अधिक होता है।

समाज में प्रचलित सत्य की अनुभूति उसमें और भी घनीभत हो उठती है। समाज जब करवट लेता है, उसमें जब बौद्धिक स्पन्दन होता है, तो उपन्यास उस स्पन्दन का मानदण्ड बनता है और समाज की नई मूर्ति गढ़ने में सहायक होता है। हिन्दी उपन्यास के सम्बन्ध में तो ये बातें और भी अधिक लागू होती हैं, क्योंकि उसका जन्म पुनरुत्थानकालीन भावना के फलस्वरूप उत्पन्न नवीन चेतना और सुधारवादी आन्दोलनों की गोद में हुआ है। प्रारम्भ से ही वह एक आदर्शवादी और सुधारवादी दृष्टिकोण लेकर आया। पुनरुत्थान की भावना ने भी देश के सामाजिक धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि सभी पक्षों को स्पर्श किया, जिनके विस्तार में जाने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। एक ओर धर्म एवं समाज सुधारवादी आन्दोलन थे (जिनमें आर्य समाज प्रमुख था) तो दूसरी ओर राजनीति और आर्थिक आन्दोलन थे (जिनके सूत्र प्रधानतः इण्डियन नेशनल कांग्रेस के हाथ में थे)। ब्रिटिश सरकार सुधारवादी आन्दोलनों के प्रति तो उदासीन थी, किन्तु दूसरे प्रकार के आन्दोलनों के साथ उसका तीव्र संघर्ष हुआ है। इस प्रकार तत्कालीन भारतीय जीवन में भारी उथल-पुथल मची हुई थी। परतंत्रता के बन्धनों से मुक्ति पाना तो देश का मुख्य लक्ष्य था, किन्तु इसके साथ-साथ धार्मिक-साम्प्रदायिक, भाषा सम्बन्धी, आर्थिक आदि ऐसी अनेक समस्याएँ उठ खड़ी होती थीं, जिनसे राष्ट्रीय जीवन की गति कभी मन्द, कभी तीव्र, कभी बिलकुल ही अवरुद्ध हो जाती थी। ऐसे उलझे हुए कंटकाकीर्ण राष्ट्रीय जीवन को साफ-सुथरे स्पष्ट रूप में देखकर उपन्यास-विधा के उत्तरदायित्व का निर्वाह करना प्रेमचन्द जैसे कलाकार के लिए ही संभव था।

प्रेमचन्द ने 'गोदान' की रचना परतंत्र भारत में की थी। इसलिए उनके सामने सबसे बड़ी चीज़ तो थी अंग्रेजी शासन के फलस्वरूप भारतीय जीवन का खोखलापन। यथार्थ जीवन पर दृष्टि केन्द्रित रहने के कारण वे इस राष्ट्रीय खोखलेपन से विमुख न हो सकते थे। उनके अन्य उपन्यासों में भी यह खोखलापन है, किन्तु उनमें उन्होंने उसके किसी एक पक्ष को लेकर अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। 'गोदान' ही उनका एक ऐसा उपन्यास है, जिसमें उन्होंने राष्ट्रीय इतिहास की चौमुखी व्यापकता को उसकी समग्रता के साथ समेट लिया है।

किन्तु प्रेमचन्द खोखलेपन के चित्रण तक ही अपने को सीमित रखने वाले कलाकार नहीं थे। वे स्वप्नद्रष्टा भी थे। उन्होंने 'गोदान' में नवोत्थित भारत का स्वप्न देखा है। कहना तो यह चाहिए कि उन्होंने अपने आदर्श के सुनहरे पर्दे की पीठिका में ही अपने समय तक के भारत का चित्र प्रस्तुत किया है। उनके समय तक भारत क्या से क्या हो गया था और वे उसकी कौन-सी नई मूर्ति गढ़ना चाहते थे यही 'गोदान' है।

भारतवर्ष ही क्या सभी देशों में सबसे बड़ा वर्ग किसान मजदूरों का होता है

अँग्रेजों ने अपने शासन-काल के प्रारम्भ से ही जो आर्थिक नीति ग्रहण कर रखी थी और उसका ग्रामीण जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा था, उसका उल्लेख करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। ए० ओ० ह्यू म की पुस्तक में इसका अत्यन्त गम्भीर विश्लेषण मिलता है। अन्तिम परिणति 'गोदान' में दृष्टिगोचर होती है। होरी का जीवन, उसका गृहस्थ एवं सामाजिक जीवन तो इसके प्रमाण हैं ही, किन्तु 'गोदान' का अध्ययन कर लेने के उपरान्त भी पूरे अंग्रेज़ी शासन-काल के अन्तर्गत किसान का वास्तविक चित्र उभर आता है। किसान का जन्म ही इसलिए होता था कि वह मर-मरकर कमाए, लेकिन स्वयं कुछ न खा सके। दोनों समय उसे भरपेट भोजन भी न मिल पाता था। सूदखोर महाजनों का फौलादी पंजा उसे अलग दबोचे रहता था। उसकी कमाई का बहुत बड़ा भाग महाजनों का कर्ज चुकाने में खर्च हो जाता था। आपस के वैमनस्य, अशिक्षा, बंटवारे, उनकी अपनी संकीर्णता, स्वार्थपरता आदि से उनकी दुर्दशा और अधिक बढ़ जाती थी। मुकदमे-बाज़ी, थाना-पुलिस, कचहरी-अदालत द्वारा भी उनकी खूब लूट होती थी। प्रेमचन्द ने एक स्थान पर किसान को सबका 'नरम चारा' कहकर अंग्रेज़ी राज्य में हो गई उसकी दुर्दशा का अत्यन्त संक्षेप में उल्लेख कर दिया है। पटवारी, ज़मींदार के चपरासी, कारिन्दे, थानेदार, कान्स्टेबिल, कानूनगो, तहसीलदार, डिप्टी, मजिस्ट्रेट, कलक्टर, कमिश्नर, दूसरे शब्दों में अंग्रेज़ों की सारी प्रशासनिक मशीनरी किसान के पीछे पड़ी रहती थी। यहाँ तक कि डाक्टर, इन्स्पेक्टर विभिन्न महकमों (जंगल नहर आदि) के हाकिम, पादरी सभी किसान से रसद लेते थे। ज़मींदार जब किसी बड़े अफसर को दावत देता था तो उसका भार भी किसानों पर ही पड़ता था। किसान जैसे बेमुँह के हो गए थे। पिसना और कुटना जैसे उनकी तकदीर में लिखा था। कर्ज के कारण घर-द्वार तक के नीलाम होने की नौबत आ जाती थी। बेगार, नज़राना, इजाफा-लगान आदि ने उनकी कमर और भी तोड़ डाली थी। अनाज खलिहानों में पहुँच भी न पाता था कि तुलकर महाजनों और कारिन्दों के यहाँ पहुँच जाता था। अंग्रेज़ी प्रशासन और महाजनी सभ्यता के गठ-बन्धन से गरीब किसानों का खून चूस लिया गया था। कहने का तात्पर्य यह है कि दाएँ-बाएँ सब तरह से किसान को लूटा जा रहा था। यही कारण था कि किसानों को रोग और मृत्यु आसानी से धर दबाती थी।

पूरे अंग्रेज़ी राज्य में किसानों की क्या दुर्दशा हो गई थी, इसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए कहीं भटकने की ज़रूरत नहीं है। इसके लिए 'गोदान' यथेष्ट है। किसान के जीवन में न कोई आशा रह गई थी न कोई उमंग। उसके जीवन का स्रोत सूख गया था, हरियाली मुरझा गई थी। चेहरे पर खुशी नहीं, आँखों में ज्योति नहीं, भविष्य अन्धकारमय, जैसे सारी चेतना शिथिल हो गई हो। भोजन केवल पेट भरने के लि था स्वाद के लिए नहीं उनकी रसना जैसे मर चुकी थी। खेले

धेले के लिए बेईमानी, मुट्ठी भर अनाज के लिए रक्तपात। शर्म और इज्जत को वह भूल बैठा था।

कृषक-जीवन के पतन की यह इन्तहा थी। 'गोदान' से पहले और उसके बाद शायद कोई दूसरा ऐसा हिन्दी उपन्यास नही मिलता, जिसमें परतन्त्र भारत के टिपिकल किसान का इतना सजीव चित्रण हुआ है।

और ज़मीदार…ज़मीदारों और राजा-महाराजाओं को तो अंग्रेज़ शासकों ने उन्नीसवीं शताब्दी से अपनी ढाल बना रखा था। अंग्रेज़ों ने देशी राज्यों को हड़पने की नीति बहुत पहले छोड़ दी थी। कोई काम न रह जाने पर ज़मींदारों, तालुकेदारों और राजा-महाराजाओं का समय ऐश-आराम में व्यतीत होता था। वे उद्योगशील और प्रगतिशील न रह गए थे। अंग्रेज़ों की साया में जीवन का बोझ ढोते रहना—निर्द्वन्द्व भाव से—उनका लक्ष्य बन गया था। जब तक किसान उन्हे धर्मावतार और देवता समझता था, तब तक वे उस पर दया-भाव प्रदर्शित करते थे, उसके प्रति सहानुभूति प्रकट करते थे। प्रजा-पालन को वे अपना सनातनधर्म समझते थे, किन्तु अपना-अपना अधिकार छोड़कर नही। वे उपजीवी बन गये थे। वे विलासी, दुराचारी, पराधीन और निर्लज्ज थे। उनमें अकड़ तो थी, आत्माभिमान नाम को भी नहीं रह गया था। छोटे-छोटे सरकारी हाकिम के वे तलवे चाटते थे, हाकिमों को डालियाँ देकर उन्हें खुश रखते थे। सरकारी अफसरों से डरते रहते थे। प्रगति की आवाज़ से वे काँप उठते थे। वास्तव में उनमें पुरुषार्थ न रह गया था। वे बाहर से मोटे और अन्दर से दुर्बल, सत्वहीन और मुहताज थे। गरीब किसानों का रक्त चूसने पर भी वे कर्ज़ के बोझ से दबे रहते थे। गुण्डो के सहारे कार्य सिद्ध करना और कौंसिल की मेम्बरी तथा मुकदमेबाज़ी उनके दैनिक कार्यक्रम थे। उनका एक पैर गाँव में और एक पैर शहर में रहता था। आमोद-प्रमोद के लिए वे शहर आते थे। कुछ ज़मींदार-तालुकेदार ऐसे भी थे जो सत्याग्रह आन्दोलनों में भाग लेते थे—भेड़िया मेमना बनकर जनता के सामने आता था। वे जेल भी गए और देश तथा समाज की भलाई के लिए सब-कुछ बलिदान कर दिया। किन्तु इतने पर भी सामन्तवादी व्यवस्था के शिकार बने रहते थे। गुफा-वासी मनुष्य उनके भीतर बना ही रहता था। राष्ट्रीयता का लबादा ओढकर वे निरीह जनता को और भी अधिक चूसने की चेष्टा करते थे।

सामन्तवादी व्यवस्था के साथ-साथ 'गोदान' में पूँजीवादी व्यवस्था भी अपना घृणित रूप चमकाए बिना नहीं रहती। यह पूँजीवादी व्यवस्था भी अंग्रेज़ी राज्य की देन थी, जिसके शिकंजे में धीरे-धीरे भारतीय समाज फंसता गया और प्रेमचन्द ने उसे उसके वास्तविक रूप में पहचान लिया। पूँजीवादी बड़े-बड़े ऊँचे सिद्धान्तो की दुहाई देते थे. उसके कारण बड़ी-बड़ी संस्थाएँ चलती थीं। यहाँ तक कि राष्ट्रीय आन्दोलन भी उनके दम से चल चला उन्होंने धर्मशालाएँ और पाठशालाएँ

बनवाई। इतना ही नहीं, संसार का शासन-सूत्र पूँजीपतियों के हाथ में था। सरकारें उनके हाथ का खिलौना थीं। चन्दा देने में वे अपनी शान समझते थे। उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलनों में भाग लिया, जेल गए, खद्दर पहना, किन्तु अपना स्वार्थ आराम और रसिकता तब भी न छोड़ी। जुआ, घुड़दौड़, ऐयाशी, विदेशी शराब, हाकिमों को दावतें देने में उनके धन का काफी अंश निकल जाता था। 'गोदान' तक के पूँजीपति का जीवन दोहरा बना रहता था। एक ओर यदि सेवा और त्याग का स्वांग रचते थे, तो दूसरी ओर रिश्वतें देते थे, व्यापार में तरह-तरह की बेईमानी करते थे, अपने ही बनाए हुए सिद्धान्तों की हत्या करते थे। वे समझते थे कि दौलत से सम्मान मिलता है और दौलत से ही नारी के हृदय पर विजय प्राप्त की जा सकती है। वे अधिकतर आत्मसेवी, भोगी और विलासी थे। उनकी धन-लोलुपता के कारण ही उनका मजदूरों के साथ संघर्ष होता था। पूँजीवाद की प्रतिमूर्ति खन्ना है। स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद भी पूँजीवाद का रूप हमारे सामने है। खन्ना और आज के पूँजीपति में वही अन्तर है, जो स्वतन्त्रता से पहले और बाद के भारतवासी में अन्तर है।

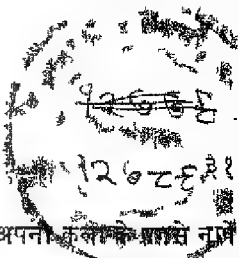
वास्तव में 'गोदान' तक आते-आते भारत की आर्थिक व्यवस्था ऐसी हो गई थी, जिसके अन्तर्गत कुछ मुट्ठी भर लोगों के पास आवश्यकता से अधिक धन था और वे मौज की जिन्दगी बिताते थे। देश की जनता का अधिकांश भाग ऐसा था जो मर-खपकर भी सुख प्राप्त न कर पाता था। नीचे के लोगों को पेट की रोटी भी मयस्सर न हो पाती थी। यहाँ तक कि शिक्षा भी एक प्रकार की पूँजी का रूप धारण कर चुकी थी। प्रशासन भी उसी के साथ था, जिसके पास पैसा था।

प्रेमचन्द ने जिस समय 'गोदान' की रचना की थी उस समय देश में प्रथम बार मंत्रि-मण्डल बने थे। ब्रिटिश सरकार द्वारा दिए गए नए विधान के अन्तर्गत चुनाव लड़े गए थे। इससे पहले भी विविध गवर्नमेण्ट ऑव इण्डिया ऐक्टों के अन्तर्गत चुनाव में लोग भाग लिया करते थे। और यह सब डेमोक्रेसी के नाम पर होता था। किन्तु कौंसिलों के चुनाव और डेमोक्रेसी भी रुपए वालों की थी। वह व्यापारियों और जमींदारों की थी। मंत्री प्रजा को लूटने वाले होते थे। कौंसिलों में ऐसे लोगों की आवश्यकता थी, जिन्होंने जनता की सेवा की हो और जिन्होंने जीवन का अनुभव प्राप्त किया हो। किन्तु इसके स्थान पर कौंसिलों के मेम्बर ऐसे होते थे, जो प्रेमचन्द के ही शब्दों में जनता को कार का पेट्रोल समझते थे, जो सिर्फ गवर्नरों और सेक्रेटरियों को पार्टियाँ देते थे। वोट नए युग का मायाजाल है।

१९३६ तक के भारतीय प्रशासन को दृष्टि-पथ में रखते हुए प्रेमचन्द ने 'गोदान' में उसे 'काली किताब' और 'काले कानूनों का युग' कहा है। इस सन्दर्भ में काला' शब्द का आशय जो समझते हैं वे इस शब्द का अर्थ भली भाँति

हृदयंगम कर सकते हैं। 'गोदान' में प्रेमचन्द ने राष्ट्रीय संघर्ष का उल्लेख विस्तार से तो नहीं किया, किन्तु रायसाहब अमरपाल सिंह, मिल मालिक खन्ना आदि के सन्दर्भ में उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलनों का उल्लेख किया है और इससे अधिक की आवश्यकता भी नहीं थी। जितना उल्लेख किया है, उसमें भी उन्होंने यह स्पष्ट संकेत दिया है कि राष्ट्रीय आन्दोलन में कैसे स्वार्थी लोगों का प्रवेश हो गया था, जिनके आन्दोलन में भाग लेने से देश को लाभ की अपेक्षा हानि की सम्भावना अधिक थी। राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास से परिचित लोग यह भली-भाति जानते हैं कि राष्ट्रीयता और सामन्तवादी पूँजीवाद का गठबन्धन एकदम नहीं हो गया था। वह धीरे-धीरे स्थापित हुआ और 'गोदान' की रचना के समय तक वह अपने वास्तविक रूप में प्रकट होने लगा था। इससे पूरे राष्ट्रीय आन्दोलन की एक झलक मिलने में सहायता प्राप्त होती है। प्रेमचन्द की कलात्मक प्रतिभा का यह प्रमाण है कि राष्ट्रीय आन्दोलन की विस्तृत गाथा न गाकर संकेतों द्वारा उन्होंने उसकी रूपरेखा प्रस्तुत कर दी है।

ब्रिटिशकालीन भारत के आर्थिक और राजनीतिक पक्षों पर प्रकाश डालने के अतिरिक्त प्रेमचन्द ने उस समय तक की उभरी हुई सामाजिक प्रवृत्तियों को भी अत्यन्त सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है। गाँवों में अशिक्षा, अन्धविश्वास और अन्ध-परम्पराएँ तो थीं ही (होरी कथा प्रमाण है), साथ ही जातिवाद का उस समय कितना कठोर बन्धन था, यह भी 'गोदान' से स्पष्ट हो जाता है। ग्रामीण जीवन में गोबर तथा झुनिया और मातादीन तथा सिलिया के प्रश्न सामाजिक जीवन को झकझोर डालते हैं। इस प्रकार के प्रश्नों के साथ ऊँच-नीच की भावना, देश की परम्परागत वर्ण-व्यवस्था आदि की समस्या जुड़ी हुई है। कायस्थ-ब्राह्मण की प्रतिद्वन्द्विता गाँवों में भी बनी हुई थी। यह समस्या परम्परा का बोझ ढोती चली जा रही थी और उसमें मानवी-सम्बन्धों के लिए कोई स्थान न रह गया था। तिलक-पोथी-पत्रे, कथा-भागवत, धर्म-संस्कार, स्नान-पूजा, जनेऊ आदि का चलन होते हुए भी उनकी मर्यादाएँ झूठी पड़ चुकी थीं। ब्राह्मण कुलीनता की डींग मारते और 'राम-नाम' की खेती काटते थे। ब्राह्मण अब भी अपने को बहुत बड़ी चीज समझता था और बम्हनई के बोझ से समाज को दबाए रखना चाहता था। मानवता का नाम भर लेना उसके मन, वचन और कर्म—सभी को विषाक्त कर देता था। प्रेमचन्द ने अपने समय की परिस्थितियों को देखते हुए ब्राह्मणों को धर्म का लुटेरा कहा है। बिरादरी का जबरदस्त भय समाज में बना हुआ था। बिरादरी से पृथक् जीवन की कल्पना ही न की जा सकती थी। शादी-ब्याह, मुंडन-छेदन, जन्म-मरण—सब-कुछ बिरादरी के हाथ में था। बिरादरी से अलग जीवन विशृंखल समझा जाता था। इस सम्बन्ध में मातादीन का प्रसंग और हरखू का व्यंग्य इस समस्या पर अत्यन्त सुन्दर प्रकाश डालते हैं। हरखू साठ



साल का बूढ़ा है—ये ही साठ साल प्रेमचन्द ने 'गोदान' में अपनी [illegible] हैं। हरखू कहता :···'तुम हमें बाम्हन नहीं बना सकते, मुदा हम तुम्हें चमार बना सकते हैं। तुम हमें बाम्हन बना दो, हमारी सारी बिरादरी बनने को तैयार है। जब यह सामरथ नहीं है तो फिर तुम भी चमार बनो, हमारे साथ खाओ-पिओ, हमारे साथ उठो-बैठो। हमारी इज्जत लेते हो तो अपना धरम हमें दो।' मातादीन के मुँह में हड्डी का टुकड़ा डाला जाना उस समय को देखते हुए बहुत बडी और साहस की बात है।

वास्तव में प्रेमचन्द ने अपने पूरे जीवन-काल में समाज की मर्यादाओं को झूठी पडते देखा था। उन्होंने यह देखा था कि समाज ढोंगी साधु-महात्माओं, झाड़-फूंक वालों, खान-पान और छुआछूत पर टिका हुआ है। समाज में बस प्रायश्चित करना, गोबर खाना, गंगाजल पीना, दान-पुण्य, तीर्थ-व्रत, यही सब-कुछ रह गया था और धर्म की असली जड़ कट गई थी। यह धर्म शहरों मे नहीं था···जहाँ शिक्षा और ज्ञान का प्रकाश फैला हुआ समझा जाता था। अज्ञानांधकार में लिप्त गाँवों मे तो उसकी और भी आशा नहीं थी।

प्रेमचन्द ने इसी प्रकार धर्म और समाज से सम्बन्धित अन्य अनेक ऐसी बातो की ओर संकेत किया है, जो उनके जीवन-काल मे ही उत्पन्न हो गई थीं और जिनका अत्यन्त सुन्दरता के साथ 'गोदान' में समाहार हुआ है। उनके विस्तार मे जाने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द ने 'गोदान' में धर्म और समाज की नीति की सराहनीयता और खोखलापन भलीभाँति चित्रित किया है।

किन्तु जैसा कि भारतीय इतिहास के सुविज्ञ पाठक भली भाँति जानते हैं, राजनीतिक क्षेत्र में राष्ट्रीय आन्दोलन जिस प्रकार नवोत्थान की भावना से प्रेरित था, उसी प्रकार समाज भी नवोत्थान की भावना से प्रेरित होकर नवनिर्माण के कार्य में संलग्न था। सामाजिक दृष्टि से नवोत्थान का सबसे उज्ज्वल पक्ष था—नारी सम्बन्धी भावना। भारतवर्ष में पश्चिम जैसा नारी-आन्दोलन नहीं छिडा। स्त्रियों की मध्ययुगीन हीन दशा दूर करने की प्रेरणा तो यहाँ की संस्कृति से ही प्राप्त हुई जिसे पहले आर्य समाज ने और फिर महात्मा गांधी के राष्ट्रीय आन्दोलन ने स्वतः स्फूर्त किया। नवभारत के निर्माताओं की भाँति देश के सामने नारी सम्बन्धी आदर्श भी था। एक ओर तो अशिक्षित और कुसंस्कारों से दबा हुआ अपार भारतीय नारी-समाज था, दूसरी ओर अत्यल्पसंख्यक नवशिक्षित महिला-समाज जो पश्चिम का अन्धानुकरण करने में जीवन की सार्थकता समझता था। नारी के ये दोनों रूप भारतीय सांस्कृतिक परम्परा के विरुद्ध थे। देश के निर्माताओं को उसका तितली-रूप पसन्द नहीं था। उसे उसका मधु-मक्खी रूप अधिक प्रिय लगता था। [illegible] सेवा और देश की सांस्कृतिक [illegible] के [illegible]

त्याग, संयम—ये ही अधिकार के स्रोत और शक्ति के उद्गम माने गए। सेवा का अभाव विवाह-विच्छेद और अविश्वास के रूप में माना जाता था। दम्पति के जीवन की नौका अविश्वास की आँधी और तूफान में डूब सकती थी। स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध का जहाँ तक प्रश्न है, प्रेमचन्द पूर्णतः आदर्शवादी और श्रेष्ठ भारतीय परम्पराओं के पोषक हैं। दया, श्रद्धा और त्याग से पूर्ण नारी-जीवन के स्थान पर सघर्ष, संग्राम, कलह, हिंसा, प्रतिशोध, दौड़-धूप, अधिकार-चर्चा वाला नारी-रूप उन्हें पसन्द नहीं। पुरुष के लिए क्षमा, दया, त्याग, अहिंसा जीवन के उच्चतम आदर्श है। नारी इस आदर्श को प्राप्त कर चुकी है। पुरुष धर्म, अध्यात्म और ऋषियों का आश्रय लेकर उस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए सदियों से जोर मार रहा है, पर सफल नहीं हो सका। प्रेमचन्द के शब्दो में 'उसका सारा अध्यात्म और योग एक तरफ और नारियों का त्याग एक तरफ'। पुरुषों की रची हुई सृष्टि मे स्त्रियाँ ही शान्ति स्थापित कर सकती है। पुरुष का क्षेत्र सीमित है, नारी का असीमित। उसका नारीत्व मातृत्व का उपक्रम मात्र है और मातृत्व ससार की सबसे बड़ी साधना, सबसे बड़ी तपस्या, सबसे बड़ा त्याग और सबसे महान् विजय है। प्रेमचन्द के शब्दों का प्रयोग करते हुए वह लय है, जीवन का, व्यक्तित्व का और नारीत्व का भी। प्रेमचन्द के नारी सम्बन्धी विचार 'प्रसाद' के विचारों से साम्य रखते है, जो एक प्रकार से भारतीय नवोत्थान की देन है।

स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध की चर्चा करते हुए प्रेमचन्द ने विवाह-प्रथा, दहेज आदि पर दृष्टिपात किया है। दाम्पत्य सम्बन्ध की पवित्रता उन्हें सर्वथा मान्य थी। तब भी तत्कालीन विवाह सम्बन्धी कुरीतियों-कुप्रथाओं को देखते हुए सम्भवतः परम्परा-गत विवाह-प्रथा में से उनकी आस्था उठ गई थी। इसीलिए नारी की सारी पवित्रताओं को अपने आचरण द्वारा मधुमक्खी के रूप द्वारा, प्रकट करते हुए भी मालती विवाह-बन्धन में बंधना नहीं चाहती। उसका कथन 'प्रसाद' के 'प्रेम पथिक' की चमेली के कथन के समान है। या तो इसके पीछे मालती का मेहता के अब तक के रुख से उत्पन्न मनोविज्ञान है या प्रेमचन्द पश्चिम की Companionate marriage की भावना और भारतीय आदर्श का समन्वित रूप प्रस्तुत करना चाहते थे, या वे उज्ज्वल नक्षत्र के समान उच्च आदर्श के उस धरातल पर पहुँच गए थे, जहाँ केवल मनस्वी आत्माएँ ही पहुँच सकती हैं। पहली बात तो प्रेमचन्द के स्वभाव के प्रतिकूल थी, क्योंकि वे वैयक्तिक भग्नाशाओं से सामाजिक आचरण प्रभावित होने देना नहीं चाहते थे। स्वयं उनका जीवन इस बात का साक्षी है कि व्यक्तिगत जीवन-कटुता ने उनके साहित्य पर कोई छाप नहीं छोड़ी। विष का पान कर उन्होंने सदैव अमृत की वर्षा की। मालती के प्रस्ताव में व्यक्ति की समस्या को समष्टि की समस्या मे परिणत करने की ओर संकेत है। संसार मे प्रायः सभी व्यक्ति छोटी-छोटी परिधियों में विचरण करते हैं उन परिधियों को

तोड़कर सीमाहीन परिधि में विचरण करना ही मनस्वी आत्माओं की पहचान है। यह अलभ्य आदर्श भी क्या नवोत्थान की देन नहीं था ? उसके मूल में सेवा-भाव, त्याग और साधना की अदम्य आकांक्षा थी । परतंत्र भारत के लिए इन गुणों की आवश्यकता थी भी।

मालती के विवाह-संबंधी दृष्टिकोण का एक और पहलू है जो प्रेमचन्द से सबधित तो नहीं है, किन्तु है नितान्त आधुनिक। अबनारी केलिए न तो वैवाहिक जीवन और न मातृत्व ही आवश्यक समझा जाता है। यह विचार कि मातृत्व के बिना नारी-जीवन अपूर्ण रह जाता है, कुंठित हो जाता है, केवल भावुकता पर आधारित है। इसका नारी-जीवन के मनोविज्ञान या उसके शरीर से कोई सबध नहीं। मातृत्व का अपना दिव्य आनन्द है, इससे इंकार नहीं किया जा सकता। तो भी इस आनन्द का उपभोग करने के लिए प्रत्येक नारी को बाध्य करना न्याय-संगत नहीं माना जायगा। मातृत्व को अत्यधिक महत्त्व देने की प्रवृत्ति के पीछे सामाजिक एवं धार्मिक परम्पराएँ और संस्कारों का आग्रह है। माताएँ अविवाहित नारियों की अपेक्षा अधिक सुखी रहती हैं, इसका भी कोई ऐसा प्रमाण नहीं है जो हर समय और हर देश में उपलब्ध होता हो। मातृत्व-पद-प्राप्त नारियों के जीवन में भी घुटन और वेदना देखी जाती है। सन्तानविहीन नारी यदि चाहे तो अपने जीवन की परिधि को अधिक-से-अधिक व्यापक बना सकती है (जैसा मालती चाहती है)। स्वतन्त्र भारत के संविधान और नारी की आर्थिक स्वतंत्रता ने इन परम्परागत रूढ़ विचारों को झुठला दिया है। आज नारी का अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व है, वह पुरुष की छाया मात्र, उसके चरणों की दासी, नहीं है । वह अब ऐसी सक्षम मानवी के रूप में मानी जाती है जो अपने जीवन को अपनी रुचि के अनुसार एक विशेष साँचे में ढाल सकती है।

प्रेमचन्द के जीवन-काल के भारतीय जीवन का जो शिखर-रूप 'गोदान' मे उपलब्ध होता है, उसके केवल कुछ महत्त्वपूर्ण पक्षों पर ही यहाँ विचार किया गया है। उसमें अन्य अनेक ऐसी छोटी-छोटी बातें कुशलतापूर्वक गुंथी हुई हैं जो उसमे सम्पूर्ण काल पर प्रकाश डालती हैं। एक और उदाहरण संपादकों का लिया जा सकता है। अंग्रेजी राज्य के स्थापना-काल से ही भारत में संपादक नामधारी जीव उत्पन्न हुआ और ज्यों-ज्यों डेमोक्रेसी और जनमत का नारा बुलन्द होता गया त्यों-त्यों पात्रों, पत्रकारों और सम्पादकों का महत्त्व भी बढ़ता गया। सार्वजनिक जीवन में सम्बद्ध नागरिकों के लिए तो सम्पादक भगवान्-स्वरूप हो गया और अब भी है। सब डरते रहते हैं कि कहीं कोई संपादक धुर्रे न उड़ा दे। हाकिमों और मन्त्रियों की जी-हजूरी के साथ-साथ सम्पादकों की जी-हजूरी भी होती थी, अब और अधिक होती है। सब उस पर 'फूल-बतासे चढ़ाते हैं।' 'गोदान' नवभारत मे विकसित सम्पादक परम्परा को 'बिजली' के सम्पादक ओंकारनाथ के रूप मे

प्रस्तुत करता है। शहरी जीवन के वे प्रमुख अंग हैं। उनमें वे सभी विशेषताएँ (यानी दुर्बलताएँ) हैं जो एक शहर के रहने वाले और सार्वजनिक जीवन से सम्पर्क रखने वाले सम्पादक में होनी चाहिए। इन 'विशेषताओं' पर विचार करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। किन्तु ब्रिटिशकालीन भारत में सम्पादक का क्या वास्तविक रूप उभरा था, उसका वर्णन स्वयं ओंकारनाथ के शब्दों में इस प्रकार है। राय साहब ने ओंकारनाथ को कुछ रुपया देने का वायदा कर सौदा (अखबारी दुनिया से सौदा) पटाया था। ओंकारनाथ को तो विश्वास हो गया था किन्तु मोटे रईसों और तालुकेदारों के वायदों पर उनकी पत्नी गोमती को विश्वास नही। ओंकारनाथ भोजन करते-करते सोचते है—'अगर रुपये न दिये तो ऐसी खबर लूँगा कि याद करेंगे। उनकी चोटी मेरे हाथ में है। गाँव के लोग झूठी खबर नही दे सकते। सच्ची खबर देते तो उनकी जान निकलती है, झूठी खबर क्या देंगे। राय साहब के खिलाफ एक रिपोर्ट मेरे पास आई है। छाप दूँ, तो बच्चा को घर से निकलना मुश्किल हो जाय। मुझे वह खैरात नहीं दे रहे हैं···मैंने भी सोचा, एक इनके ठीक हो जाने से तो देश से अन्याय मिटा जाता नहीं, फिर क्यों न इस दान को स्वीकार कर लूँ। मैं अपने आदर्श से गिर गया हूँ ज़रूर, लेकिन इतने पर भी राय साहब ने दगा की, तो मैं भी शठता पर उतर आऊँगा। जो ग़रीबो को लूटता है, उसको लूटने के लिए अपनी आत्मा को बहुत समझाना न पड़ेगा।' इसलिए एक औसत दर्जे के सम्पादक की मनोवृत्ति और नैतिकता पर इससे अच्छा प्रकाश पड़ता है। और पत्रों का अधिक प्रचार न होने के कारणों के सम्बन्ध मे उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में 'उदन्त मार्तण्ड' के सम्पादक युगलकिशोर शुक्ल का जो बिचार था, वही बिचार 'बिजली' के सम्पादक ओंकारनाथ का है। एक शताब्दी बीत जाने पर भी कोई अन्तर नहीं पड़ा। कारण था शिक्षा का अभाव, जिसे अंग्रेज शासक बनाए रखना चाहते थे। एक भिन्न सन्दर्भ में सही, किन्तु इससे 'गोदान' तक की पत्रकारिता की स्थिति का अच्छा परिचय प्राप्त हो जाता है 'खेद यही है कि पत्रों की ओर से जनता कितनी उदासीन है। स्कूलों और मन्दिरों के लिए धन की कमी नहीं है, पर आज एक भी ऐसा दानी न निकला, जो पत्रो के प्रचार के लिए दान देता, हालांकि जन-शिक्षा का उद्देश्य जितने कम खर्च मे पत्रों से पूरा हो सकता है, और किसी तरह नहीं हो सकता। जैसे शिक्षालयों को संस्थाओं द्वारा सहायता मिला करती है, ऐसे ही अगर पत्रकारों को मिलने लगे, तो इन बेचारों को अपना जितना समय और स्थान विज्ञापनों की भेंट करना पडता है, वह क्यों करना पड़े।···'

सच तो यह है कि प्रेमचन्द ने कलाकार के रूप में 'गोदान' में अपने सम्पूर्ण युग की उस कुरूपता का अनुभव किया था, जिससे भारतीय जनसमूह पीड़ित था। अंग्रेजी राज्य की कटुता ने उनके मन को कचोट डाला था उन्होंने अपने चारों

ओर के अपार मानव-समूह को, राजनीतिक आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक आदि सभी प्रकार के पाशविक वातावरण के बोझ से पिसते देखा, मनुष्य को भौतिक और मानसिक रूप से बिखरते और टूटते देखा। ऐसे वातावरण के बीच रहते हुए प्रेमचन्द की व्यथा व्यक्त हुए बिना न रह सकी, किन्तु साथ ही मनुष्य के मनुष्यत्व में आस्था बनाए रखते हुए एक ऐसा आदर्श प्रस्तुत किया जो मनुष्य को सुखी बना सकता था, उसके जीवन को मंगलमय रूप प्रदान कर सकता था। निम्न स्तर से ऊपर उठाकर वे जीवन को स्वर्णिम बनाना चाहते थे। इसीलिए 'गोदान' में उन्होंने जीवन की कुरूपता का चित्रण अपने आदर्श के पार्श्व में किया है। वे आशावादी थे। उनके सामने दो सत्य थे—१. चारों ओर के जीवन की कटुता और २. सुख, शान्ति और प्रेम की आवश्यकता। इस दुहरी चेतना का संबल लेकर ही प्रेमचन्द ने जीवन और साहित्य में प्रवेश किया था जिसकी अन्तिम परिणति 'गोदान' में दृष्टिगोचर होती है। उनकी यह आशावादिता जन-जीवन के अजस्र स्रोत के साथ सम्पर्क के फलस्वरूप थी।

'गोदान' के रूप में प्रेमचन्द ने उपन्यास के उसी उत्तरदायित्व का निर्वाह किया है, जिसकी ओर प्रस्तुत पुस्तक के प्रारम्भ में 'सम्भावनाओं के नए क्षितिज' शीर्षक के अन्तर्गत संकेत किया जा चुका है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेकर प्रेमचन्द तक हिन्दी उपन्यासों में जीवन के जो खण्ड चित्र मिलते हैं, उनका समग्र संकलित रूप 'गोदान' में है। 'गोदान' को उस युग की कलात्मक 'रिपोर्ट' अथवा उस युग तक के विभिन्न विचारों का श्रेष्ठ कलात्मक समन्वय कहा जाय तो अनुचित न होगा।

अपने चारों ओर बिखरे हुए जीवन के खण्डहर पर प्रेमचन्द कौन-सा नया प्रासाद निर्मित करना चाहते थे ?

जब धनियाँ कहती है : "उस पर सुराज चाहिए। जेहल जाने से सुराज न मिलेगा, धरम से, न्याय से।" अथवा जब 'गोदान' में पढ़ने को मिलता है : "इस नई सभ्यता का आधार धन है, विद्या और सेवा और कुल और जाति सब धन के सामने हेय है।" अथवा लोग कहते हैं : "भारत धनी हो रहा है। होता होगा।" तो निराशा होती है।

किन्तु प्रेमचन्द इस निराशा को दूर करना चाहते हैं सर्वप्रथम नया मनुष्य गढ़कर। उनका नया मनुष्य सेवा-भाव से ओतप्रोत है, जो प्रकृति का पुजारी है और जो अपने प्राकृतिक रूप में जीवन-यापन करता है, जो हँसता, रोता और क्रोध करता है। इस मनुष्य का जीवन आनन्दमय है, स्वच्छन्द है, जहाँ कुत्सा, ईर्ष्या और जलन के लिए कोई स्थान नहीं। वह अतीत और भविष्य की चिन्ता न कर निर्भय कर्मकूप में कूदना जानता है। इतिहास के मलबे के नीचे दबी पड़ी रूढ़ियों और विश्वासों के प्रति जिसमें कोई आस्था नहीं

जिसमें जीवन्त शक्ति है, मानव-धर्म की स्फूर्ति है, जो जीवन, क्रीड़ा, चहक और प्रेम तथा सेवा-भाव में ईश्वर का रूप देखता है। जो मानव-धर्मी है, कर्म योगी है, वही मनुष्य जीवन को सार्थक, ऊँचा और पवित्र बना सकता था। मानव-जीवन की एकता में उसे ईश्वर की कल्पना की सोद्देश्यता दृष्टिगोचर होती है। वह दार्शनिक सिद्धान्तो के सूक्ष्म तात्त्विक विवेचन के गोरखधंधों में न पड़कर उसका व्यावहारिक पक्ष ग्रहण कर मानव जाति को एक-दूसरे के समीप लाना, आपस के भेद-भाव को मिटाना, भ्रातृ-भाव को दृढ़ करना और किसी भी रूप में किसी का शोषण न करना ही जिसका पुनीत कर्तव्य है, जिसका जीवन परिष्कृत और जिसमें आत्मशक्ति है। ऐसा व्यक्ति ही संसार में आत्मविश्वास जगा सकता है, अज्ञात-रूप से प्रेरणा प्रदान कर सकता है और जीवनका नया आदर्श स्थापित कर सकता है।

'गोदान' में प्रेमचन्द ने उस दिन की कल्पना की है जब 'देवत्व' 'पशुत्व' पर विजय प्राप्त करेगा। तभी समाज, देश और मानव जाति का कल्याण होगा।

एक सम्पूर्ण युग की औपन्यासिक परम्परा और भारतीय जीवन की समग्रता, उसके जीवन-चिन्तन, विचार-दोहन और विचारादर्श का 'गोदान' एक विराट् कलक है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इसीलिए हिन्दी उपन्यास-साहित्य की विकास-यात्रा में पड़ा 'गोदान' पहला मील का पत्थर है। 'गोदान' से पहले के ५०-६० वर्षों में भारतीय समाज ने किस तरह करवटें लीं, किस तरह वह गिरा और गिरकर उठने की चेष्टा की, किस तरह की ठोकरों ने उसे जगाया, उसने किस कशमकश और जद्दोजहद में जिन्दगी बिताई—इन सब बातों को 'गोदान' में कलात्मक ढंग से आत्मसात् कर लिया गया है। वह समाज के पुनर्गठन की कल्पना करता और एक नए वर्ग को उभरते हुए चित्रित करता है। वह पिछली समूची सामन्तवादी-पूँजीवादी-साम्राज्यवादी-नौकरशाही जीवन-पद्धति पर जबरदस्त प्रहार करता है। 'गोदान' को पढ़ जाना उस सारे पिछले युग को पढ़ जाना है। साथ ही वह नवयुग का प्रथम गंभीर उद्घोष है। प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों में 'गोदान' का प्रभाव भी स्पष्टतः परिलक्षित होता है। 'गोदान' में कृषक वर्ग का संघर्ष है, तो प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों में मध्यम वर्ग का संघर्ष है, जिसकी हार में भी विजय और उल्लास है। और, गोबर तो आज गाँव-गाँव में पैदा हो गए हैं जो कुछ उपन्यास-लेखकों के पात्र भी बन रहे हैं। 'गोदान' की परम्परा स्थूल और सूक्ष्म दोनों रूपों में आगे बढ़ रही है, यह शुभ है। 'शेखर : एक जीवनी' (शेखर), 'मैला आँचल', 'झूठा सच' आदि में यह प्रभाव किसी-न-किसी रूप में देखा जा सकता है। 'सुबह अँधेरे पथ पर' (परमात्मा बाबू) इसका आधुनिकतम उदाहरण

नारी के नये सन्दर्भों की खोज : 'त्यागपत्र'

जैनेन्द्रकुमार मुख्य रूप से मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार हैं। 'त्यागपत्र' उनका दूसरा उपन्यास है, जो १९३७ में प्रकाशित हुआ था। इसमें मुख्य रूप से परिवर्तित परिस्थितियों में नारी से सम्बन्धित नए सन्दर्भों को खोजने की चेष्टा है जो उसके बाह्य जीवन से उतने सम्बन्धित नहीं हैं जितने आन्तरिक जीवन से। किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि इसमें बाह्य जीवन की पूर्णतया उपेक्षा की गई है। वास्तव में बाह्य जीवन की तीव्रता ही आन्तरिक जीवन पर संघात करती है, जिससे सूक्ष्म मनोभावों एवं प्रतिक्रियास्वरूप मनःस्थितियों को स्वरूप प्राप्त होता है और मनुष्य के भावी जीवन की दिशाएँ निर्धारित होती हैं। प्रायः देखा गया है कि ये मनोवैज्ञानिक घात-प्रतिघात प्रायः इतने तीव्रतर होते हैं कि अच्छा-भला जीवन विघटित हो जाता है और अनेक ऐसे अन्तर्विरोध उत्पन्न हो जाते हैं कि उसे सरलीकृत करना सम्भव नहीं होता। जीवन के चारों ओर ऐसा रहस्यलोक निर्मित हो जाता है कि उसे भेदना कठिन हो जाता है। 'त्यागपत्र' में यही घात-प्रतिघात सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक धरातल पर चित्रित किया गया है और मृणाल ऐसी ही जटिल पात्र उपस्थित की गई है।

'त्यागपत्र' वस्तुतः चरित्र-प्रधान उपन्यास है। इसमें कोई सुसम्बद्ध कथानक प्राप्त नहीं होता। कुछ विभिन्न परिस्थितियाँ है जिनमें मृणाल को डाल दिया गया है, जिससे उसका चरित्र स्वयमेव विकसित होता है। ये परिस्थितियाँ भी शृंखलाबद्ध नहीं हैं और न स्पष्ट ही हैं। इन परिस्थितियों के केवल सूक्ष्म, अस्पष्ट तथा विशृंखलित सूत्र भर लिए गए हैं जिससे उपन्यास का बौद्धिक पक्ष अत्यन्त प्रबल हो जाता है। इसके साथ ही इन परिस्थितियों के प्रस्तुतीकरण में एक ऐसी करुण उदास भावना का अनायास समन्वय हो गया है, जो पूरे कथ्य में प्रवाह तो उत्पन्न करता ही है, साथ ही बिखरे हुए सारे सन्दर्भों को संगुफित भी करता है। सूक्ष्म-से-सूक्ष्म कथा-सूत्र की भी इस उपन्यास में इतनी गम्भीर अभिव्यंजना हुई है कि पूरा उपन्यास अत्यन्त मर्मस्पर्शी बन गया है और मन पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ जाता है।

---

१ जैनेन्द्रकुमार 'त्यागपत्र' १९३७ ई०। हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर प्रा० लि० बम्बई।

प्रश्न उठाया जाता रहा है कि क्या 'त्यागपत्र' को उपन्यास माना जाना चाहिए या मात्र एक लम्बी कहानी ? मैं समझता हूँ कि इस तरह का प्रश्न व्यर्थ है। जैनेन्द्र ने प्रायः छोटे उपन्यास ही लिखे हैं। यह ठीक है कि प्रस्तुत उपन्यास उनकी रचनाओं में आकार की दृष्टि से सबसे छोटा है, किन्तु मात्र इसीलिए यह कहानी विधा के अन्तर्गत नहीं सम्मिलित किया जा सकता क्योंकि यह उपन्यास की सारी आवश्यकताएँ पूर्ण करता है। इसमें परिवेश का विस्तार है और काल-क्रम का भी। मानव-जीवन की पूर्ण नियति है और नारी समस्या के विविध पक्ष भी। भले ही उन्हें प्रकाशित करने में इमेजों, संकेतों या सूत्रों से काम लिया गया है, किन्तु इससे परिवेश का विस्तार कम नहीं हो जाता। यदि इन विभिन्न सूक्ष्म-संकेतों को सुसम्बद्ध किया जाय तो इस उपन्यास के विराट् कैन्वेस का स्पष्टीकरण अपने-आप हो जाता है। यही उसे कहानी से अलग करता है।

इस उपन्यास के सम्बन्ध में दूसरा प्रश्न यह उठाया जाता है कि यह व्यक्ति-सीमित उपन्यास है और इसमें सामाजिक पक्ष अत्यन्त गौण है। यह प्रश्न भी वस्तुतः जैनेन्द्र के सम्बन्ध में दुराग्रह रखने का ही प्रतीक है। यह ठीक है कि जैनेन्द्र मनोवैज्ञानिक कथाकार हैं और व्यक्ति की आन्तरिक प्रवृत्तियों का मनो-विश्लेषण करने में वे सिद्धहस्त हैं, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उनके उपन्यास सामाजिकता से शून्य हैं। उनके पहले उपन्यास 'परख' में भी स्त्री-पुरुष से संबन्धित सामाजिक समस्या नए परिप्रेक्ष्य में उठाई गई थी और बाद के उपन्यासों में भी। वस्तुतः जैनेन्द्र के उपन्यासों को प्रेमचन्द के उपन्यासों का मूल्यांकन करने वाली दृष्टि से देखना उचित नहीं होगा। उनकी कथाकृतियाँ मूल्यांकन की नई दृष्टि की मांग करती हैं। प्रेमचन्द के उपन्यासों में जहाँ स्थूल सामाजिकता मिलती है, वहीं जैनेन्द्र के उपन्यासों में अत्यन्त सूक्ष्म सामाजिकता। प्रेमचन्द व्यक्ति को सामाजिक प्राणी समझते थे और उसके बाह्य पक्ष पर ही अधिक बल देते थे। किन्तु जैनेन्द्र ने व्यक्ति के आन्तरिक पक्ष पर अधिक बल दिया है और समाज की महत्ता इस रूप में स्वीकार की है कि उसके घात-प्रतिघात से व्यक्ति का आन्तरिक पक्ष प्रभावित होता है तथा उसकी दिशा निर्धारित होती है। स्वयं 'त्यागपत्र' में ही मुख्य बल नायिका मृणाल पर दिया गया है, किन्तु उसके बहाने आधुनिक समाज में अनमेल विवाह से नारी की दुर्गति, उसके आर्थिक स्वावलम्बन की समस्या तथा प्रेम विवाह एवं परिवार के प्रमुख सूत्र उद्‌घाटित हुए हैं, जो एक नई सामाजिक संचेतना का निर्माण करते हैं। यह एक प्रकार से सामाजिक प्रवृत्तियों एवं मनुष्य की मनोवृत्तियों का समन्वयात्मक संकलन है।

मृणाल की धारणा है जो शास्त्र से नहीं मिलता वह ज्ञान आत्म-व्यथा में से मिल जाता है और उसका सारा जीवन इसी (में ही व्यतीत हो जाता

है। शीला के भाई से वह प्रेम करती है, पर सफल नहीं हो पाती। माँ-बाप की स्नेह-छाया से वह पहले ही वंचित हो जाती है और भाई के घर घृणित-उपेक्षित जीवन जीती है, यहाँ तक कि एक दिन भावज निर्ममता से उसे बेंत से पीटती तक है। परिस्थितियों से विवश होकर उसका अनमेल विवाह एक बड़ी आयु वाले दुहाजू से होता है, जो उसे न प्रेम दे पाता है, न सम्मान। वहाँ विवाहित जीवन के नाम पर उसे पति से कठोर व्यवहार और बेंतों की मार मिलती है। वह घर वापस आकर पति-परित्यक्ता जीवन जीना चाहती है, किन्तु भाई-भावज उसे घर में टिकने नहीं देते और वह विवश होकर फिर ससुराल के नारकीय जीवन में वापस लौटती है। वहाँ से निकलकर वह एक कोयले वाले को आत्मसमर्पण करती है, कहीं पढ़ाने का काम करती है। वह जीने के सभी प्रयत्न करती है, किन्तु प्रारब्ध उसके विपरीत होता है और पग-पग पर उसे मात्र व्यथा मिलती है और उसका सारा जीवन पीड़ाओं का जीवन बन जाता है। जैनेन्द्र के अनुसार 'वही सार है। वही जमा हुआ दर्द मानव की मानस-मणि है। उसके प्रकाश में मानव का गतिपथ उज्ज्वल होगा, नहीं तो चारों ओर गहन वन है, किसी ओर मार्ग सूझता नहीं और मानव अपनी क्षुधा-तृषा, राग-द्वेष, मान-मोह में भटकता है।" यह पीड़ा ही मृणाल के लिए तपस्या है। उसकी पीड़ा इन सामाजिक समस्याओं को अत्यधिक घनीभूत करती है, जो आज नारी के अस्तित्व के सामने प्रश्नचिह्न उपस्थित करती हैं। ये समस्याएँ मृणाल की वैयक्तिक नहीं हैं, पूरे नारी जगत् की हैं। इस प्रकार जैनेन्द्र ने इस उपन्यास में अनेक मौलिक प्रश्न उठाए हैं और वैयक्तिकता से सामाजिकता की ओर व्यष्टिगत चिन्तन से समष्टिगत चिन्तन की ओर जाने का संकेत किया है।

जैनेन्द्र ने स्वयं इन समस्याओं का अपनी ओर से कोई समाधान नहीं प्रस्तुत किया है। उस रूप में वे कोई आदर्शवादी हैं भी नहीं और न किसी यूटोपिया का निर्माण करना उनका उद्देश्य है। उन्होंने सामाजिक विसंगतियों की ओर केवल लोगों की आँखें खोलने की चेष्टा की है और इसमें कोई शक नहीं कि इससे उद्देश्य में उन्हें अपार सफलता प्राप्त हुई है। यह उपन्यास घनीभूत वेदना का ऐसा मर्म-स्पर्शी चित्रण है, जो मन को पूर्णतया उद्वेलित कर देता है और व्यक्ति यह सोचने पर विवश हो जाता है कि नारी की इस भयानक दुर्गति का उत्तरदायित्व किस पर है। सड़ी-गली परम्पराओं पर जहाँ नारी की स्वतन्त्रता अभिशाप है और उसे शोषण के लिए निर्जीव गठरी मात्र समझ लिया जाता है या उस सामाजिक व्यवस्था पर, जहाँ वह पुरुष की दासी बनने के लिए विवश है, क्योंकि उसके जीने का कोई आर्थिक आधार नहीं है। प्रमोद का यह सोचना इसी प्रतिक्रिया को और तीखी करता है कि 'जी होता था. कुछ होना चाहिए, कुछ करना चाहिए। कहीं कुछ गड़बड़ है कहीं क्यों सब मतलब ही गड़बड़ है सृष्टि गलत है समाज

ग़लत है। जीवन ही हमारा ग़लत है। सारा चक्कर यह ऊटपटांग है। इसमें तर्क नहीं है, संगति नहीं है, कुछ नहीं है। इसे जरूर कुछ होना होगा।' उसे क्या होना होगा, यह सोचने का दायित्व बड़ी कुशलता से जैनेन्द्र ने दूसरों पर डाल दिया है। यह एक ज्वलन्त प्रश्न है, जिसकी किसी भी प्रकार की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ-साथ गांधीजी ने जहाँ स्वाधीनता संग्राम को नेतृत्व प्रदान किया, वहीं नारी-सुधार आन्दोलन की भी नींव डाली। यद्यपि आर्य समाज आन्दोलन पहले ही इस दिशा में कार्यरत था, किन्तु गांधीजी के आह्वान से इसमें अधिक सक्रियता आई और उसे एक निश्चित दिशा मिली। 'त्यागपत्र' की रचना उन्हीं दिनों हुई थी। जैनेन्द्रकुमार का सोचने-समझने का अपना एक ढग है। आर्य समाज आन्दोलन और गांधीजी दोनों ही नारियों के अधिकारो के लिए संघर्ष कर रहे थे और विशेष रूप से नारी शिक्षा तथा विधवा विवाह पर बल दे रहे थे। जैनेन्द्र ने भी मृणाल को शिक्षित दिखाया है, किन्तु तदुपरान्त भी उसकी दुर्गति से उन्होंने उस समय की परिस्थितियों में यह प्रश्न उठाया था (और जो आज भी उतना ही सामाजिक लगता है।) कि ये सब स्थूल बातें हैं, बाह्य पक्ष से सम्बन्धित हैं। केवल इन्हीं बातों से नारी को समानता नहीं प्राप्त हो जाएगी। यदि ऐसा होता और मात्र उतने से ही नारी को वैभव, सुख—डायमास तथा सम्मान प्राप्त हो जाता, तो कदाचित् मृणाल का इतना पीड़ादायक अन्त न होता। जैनेन्द्र तो इससे भी एक कदम आगे गए और उन्होंने यह मूल प्रश्न उठाया कि इस सारे रूप-विधान को परिवर्तित होना होगा, जहाँ मनुष्य की संकीर्ण मनोवृत्ति, उसकी पाशविकता, नारी का शोषण करने एवं अपनी वासना एवं हवस की पूर्ति का साधन बनाने की दुर्दम इच्छा तथा उसका अहंकार नहीं परिवर्तित होगा, तब तक कुछ भी प्राप्त नहीं होगा। इस प्रकार उन्होंने 'त्यागपत्र' के माध्यम से इस बात पर बल दिया है कि केवल मनुष्य का बाह्य पक्ष बदलना व्यर्थ है, जब तक उसका अन्तःकरण भी शुद्ध न हो और वह नारी की वास्तविक गरिमा उचित सन्दर्भों में न पहचाने।

मृणाल के चरित्र का मूल्यांकन इसी सन्दर्भ मे किया जा सकता है। यद्यपि उसका चरित्र होरी ('गोदान'), शेखर ('शेखर : एक जीवनी') या परमात्मा बाबू ('सुबह अंधेरे पथ पर') की तरह विराट् एवं व्यापक नहीं है और न ही उतना आकर्षक है, पर ये सभी पुरुष पात्र हैं। हिन्दी उपन्यासों की नायिकाओ मे निश्चित रूप से उसका अपना विशिष्ट महत्त्व है और उसके माध्यम से सामाजिक सत्य की बड़ी मार्मिक अभिव्यंजना इस उपन्यास में हुई है और इस दृष्टि से थोड़े-से अविस्मरणीय पात्रों में उसका निश्चित रूप से उल्लेखनीय स्थान है। वह जान-बूझकर आत्मपीड़ा इसलिए सहती है, ताकि दूसरों का संसार सुखी रहे। एक

स्थान पर प्रमोद की जिज्ञासा शान्त करते हुए वह कहती है, 'यहाँ का लाभ ? तुम पूछोगे। लाभ बहुत है। यहाँ किसी को यह कहने का लोभ नही है कि वह सच्चरित्र है। यहाँ सच्चरित्रता के अर्थ में मानव का मूल्य नहीं जाना जाता। दुर्जनता ही मानो कीमती है। यहाँ उसी हिसाब से मानव की घट-बढ़ कीमत है। मैं मानती हूँ कि यही रोग है, यही भयानक जड़ता है। किन्तु लाभदायक भी है। इस जगह आकर यह असम्भव है कि कोई अपने को सच्चरित्र दिखाए, दिखाना चाहे, या दिखा सके। यहाँ सदाचार का कुछ मूल्य ही नहीं है, अपेक्षा ही नहीं है। बल्कि ऋण मूल्य है। अगर कहीं भीतर, बहुत भीतर मज्जा तक में छिपा पशुता का कीड़ा है तो यहाँ वह ऊपर आ रहेगा। यहाँ छल असंभव है, जो छल कि सभ्य समाज में जरूरी ही है। यहाँ तहज़ीब की माँग नहीं है, सभ्यता की आशा नही है। बेहयाई जितनी उघड़ी सामने आए उतनी यहाँ रसीली बनती है। बर्बरता को लाज का आवरण नहीं चाहिए, मनुष्य यहाँ खुलकर सगर्व पशु हो सकता है। जो नही हो सकता, उसकी मनुष्यता में बट्टा समझा जाता है। इसलिए सच्चरित्र दीखने वाला यहाँ नहीं टिक सकता। उसे मज्जा तक सच्चा होना होगा, तभी खैरियत है। जो बाहर हो, वही भीतर। भीतर पशु हो तो इस जलवायु में आकर बाहर की मनुष्यता एक क्षण नहीं ठहरेगी। मनुष्य हो, तो भीतर तक मनुष्य होना होगा।' यह लम्बा उद्धरण जान-बूझकर दिया गया है जो उपन्यास की मूल समस्या और मृणाल के चरित्र पर प्रकाश डालता है।

मृणाल जैसा कि ऊपर कहा गया है, 'पर' के लिए 'स्व' का उत्सर्ग करने में सदैव प्रस्तुत रहती है। उसका चरित्र विकसनशील है, वह स्थिर पात्र नहीं है। उसमे असीम धैर्य के साथ गहरी अनुभूतियाँ हैं। उसका चरित्र अत्यन्त संवेदनशील है और उसका विकास भी बहुत सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक धरातल पर हुआ है। उसके चरित्र में मनोवैज्ञानिक यथार्थ तथा सामाजिक यथार्थ का अद्भुत समन्वय हुआ है। मृणाल दूसरों के लिए अपना सर्वस्व इसलिए त्याग कर सकती है ताकि दूसरे सुखी रह सकें। वह कोयले वाले को आत्मसमर्पण इसीलिए करती भी है, क्योंकि 'उसका प्रेम स्वीकार करने की कल्पना भी दुर्विसह्य थी। पर उसका दायित्व क्या मुझ पर न था ? और यह भी ठीक है कि उस समय उसका सर्वस्व मैं ही थी। मैं उसके हाथ से निकलती तो वह अनर्थ कर बैठता। अपने को मार लेता या शक्ति होती तो मुझे मार देता। सच कहती हूँ प्रमोद, कि उस समय उस आदमी पर मुझे इतनी करुणा आई कि मैं ही जानती हूँ। मैं उसके इस भ्रम को किसी प्रकार न तोड़ सकी कि मैं उसकी हूँ, उस पर मुग्ध हूँ। ऐसा करना निर्दयता होती, मेरे पास जो कुछ बचा-खुचा था, मैंने उसे सौंप दिया।' इसी प्रकार उसमें आत्म सम्मान की भी तीव्र भावना है। इतनी ठोकरें सहने के बाद और अत्यन्त सोचनीय स्थिति में आ जाने के बावजूद उसका आत्म गौरव किसी भी प्रकार कुण्ठित नहीं होता

वह किसी भी प्रकार की याचना नहीं चाहती यहाँ तक कि वह प्रमोद की सहायता भी यह कहकर अस्वीकार देती है कि 'प्रमोद' मैं सहायता की भूखी नहीं हूँ क्या ? तुझसे ही वह सहायता न लूँगी तो किससे लूँगी। लेकिन सहायता का हाथ देकर क्या मुझे यहाँ से उठाकर ऊँचे वर्ग में जा बिठाने की इच्छा है ? तो भाई मुझे माफ कर दो। वैसी मेरी अभिलाषा नहीं है। सहायता मुझे इसलिए चाहिए कि मेरा मन पक्का होता रहे कि कोई मुझे कुचले, तो भी मैं कुचली न जाऊँ, और इतनी जीवित रहूँ कि उसके पाप के बोझ को भी ले लूँ और सबके लिए क्षमा की प्रार्थना करूँ।'

लेकिन मृणाल के चरित्र का सबसे दुर्बल पक्ष वह है, जहाँ वह अपने पति से स्पष्ट कहती है कि आप चाहें तो मुझे अपने से दूर कर सकते हैं। यह कथन उसके ऊपर आरोपित प्रतीत होता है और सहसा इसपर विश्वास नहीं होता। इसके अतिरिक्त यह भी प्रश्न उठता है कि मृणाल जब सुशिक्षित थी और आत्म-गौरव के साथ-साथ उसमें आत्म-संघर्ष की इतनी तीव्र भावना थी तो उसने अपने जीवन को बेहतर बनाने के लिए और बेहतर प्रयत्न क्यों नहीं किया ? ऊपर कोयले वाले को आत्मसमर्पण करने में मृणाल की जिस कैफियत का उल्लेख किया गया है, वह उसकी त्याग-भावना को भले ही प्रदर्शित करे, परिस्थितियों के सन्दर्भ में बहुत वजनी नहीं प्रतीत होता। वह अपनी स्थिति को सुरक्षित रखते हुए इस जीवन-संग्राम में एक सुनिश्चित दिशा खोज सकती थी। अन्त में उसकी मृत्यु गहन अवसाद की तीखी प्रतिक्रिया बनकर उभरती है। वह जैसे दुःखपूर्ण परिस्थितियों का चरमोत्कर्ष है, जहाँ सहसा ऐसा मार्मिक संघात पहुँचता है कि आदमी भौंचक्का-सा रह जाता है। यह जैनेन्द्र का अनुपम कौशल है कि बहुत प्रामाणिक न प्रतीत होते हुए भी वे मृणाल के चरित्र को इतनी गहनता प्रदान कर सके हैं और उसके माध्यम से इतने व्यापक सन्दर्भों को उभारने में सफल हुए हैं।

जस्टिस दयाल, यानी कि प्रमोद का चरित्र इस घनीभूत वेदना को और भी गहरा रंग देने के लिए कल्पित हुआ है। वह 'लेकिन व्यर्थ बातें मैं क्यों करूँ, इससे क्या फायदा है ? ऐसे मन का दर्द हल्का तो होगा। पर हल्का होकर वह दर्द सह्य अधिक बन जाता हो, इस भांति प्रेरक तो वह अवश्य ही क्या हो जाता है।' या '··· पर जो जगत् की कठोरता का बोझ इच्छापूर्वक अपने ऊपर उठाकर चुपचाप चले जाते हैं और फिर समय आने पर इस धरती माता से लगकर उसी भाँति चुपचाप सो जाते हैं, मैं उनको प्रणाम करता हूँ। मैं उनको अभागा भी कह लूँगा, पापी भी कह लूँगा—लेकिन मैं उनको प्रणाम करता हूँ।' जैसे वाक्य कहकर करुणा को और भी तीव्र करता है। उसके चरित्र का चतुर्दिक् विकास तो इस उपन्यास में नहीं हो पाया है, लेकिन उसकी परिकल्पना सार्थक ढंग से हुई है। प्रमोद के चरित्र में नाटकीयता भी अधिक है और बहुत-से प्रसंगों में वह उसी प्रकार अविश्वसनीय

प्रतीत होता है, जैसे मृणाल। वह मृणाल कीसहायता करने के लिए उन्हीं परिस्थितियों में सामने आता है, जिनमें लेखक को कोई दार्शनिकता स्पष्ट करनी होती है या कोई सार-तत्व उभारना होता है। अन्यथा उसके चरित्र में संयोग तत्वों की प्रधानता अधिक है। इन दो पात्रों के अतिरिक्त शेष जो पात्र आए हैं, वे केवल रेखाचित्र मात्र हैं।

यह उपन्यास आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया है। इसमें कथा-प्रवाह है और रोचक मार्मिक प्रसंगों का संगुंफन बड़ी कुशलता से किया गया है, इसमें कोई सन्देह नहीं। लेकिन जिन परिस्थितियों की योजना इस उपन्यास में की गई है वे प्राय: सहज-स्वाभाविक नहीं हैं और सायास आयोजित की गई प्रतीत होती है। फिर सबसे बड़ी बात उनकी विश्वसनीयता की कमी है। यह अप्रामाणिक अनुभूति स्थान-स्थान पर खटकती है, लेकिन इसके बावजूद इस उपन्यास में इतना तीव्र प्रवाह है कि पाठक एक झटके में चरम सीमा पर पहुँचकर करुणा से ओत-प्रोत हो जाता है। जैनेन्द्र ने छोटे-छोटे वाक्यों, पूरे वाक्योंको तोड़-मरोड़कर और प्रश्न उठाकर स्वयं उनका उत्तर देने की जो अभिनव शैली इस उपन्यास में अपनाई है, वह पात्रों की अकुलाहट और उनकी वास्तविक मन:स्थितियों को यथार्थ धरातल पर प्रस्तुत करने में पूर्णतया सफल है। शैली को तीव्रतर और प्रभावी बनाने में भाषा का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है। अंग्रेजी तथा उर्दू के शब्दों का बड़ा ही कुशल सयोजन पात्रों के क्रिया-कलाप को यथार्थता प्रदान करने के लिए किया गया है।

इस प्रकार 'त्यागपत्र' में प्रामाणिकता की अनेक सीमाएँ हैं। उसका परिवेश भी उतना व्यापक नहीं है कि उसमें किसी काल-विशेष का प्रतिबिम्ब सजीव हो सके। लेकिन इतना होने के बावजूद हिन्दी का कदाचित् यह पहला उपन्यास है, जिसमें आधुनिक नारी के अन्तर-मन और उससे सम्बन्धित समस्याओं का इतने व्यापक सन्दर्भों में उद्‌घाटन किया गया है। इसीलिए एकांगी होते हुए भी यह उपन्यास हिन्दी उपन्यासों के विकास में नए प्रतिमान स्थापित करता है यह निर्विवाद है। इसका शिल्प अभिनव है ही, कथ्य एवं कथन की ताजगीभी इसके रचना-काल मे एक अभूतपूर्व बात थी और इस उपन्यास का कई दृष्टियों से ऐतिहासिक महत्त्व है। इसने हिन्दी उपन्यासों को एक नई दिशा दी, जिसका चरम विकास 'शेखर एक जीवनी' में प्राप्त होता है और आज तक विभिन्न उपन्यासों पर इस शिल्प एव प्रस्तुतीकरण का प्रभाव, भले ही वह प्रच्छन्न रूप में हो, देखा जा सकता है और यह कम महत्त्वपूर्ण बात नहीं है।

वैयक्तिक अनुभवों का व्यापक दायरा : 'शेखर : एक जीवनी'

हिन्दी उपन्यासों में जिस स्थूल सामाजिकता का चरम विकास 'गोदान' मे मिलता है, उसकी प्रतिक्रिया होनी स्वाभाविक थी और जैनेन्द्रकुमार के आगमन के साथ हिन्दी उपन्यास की दिशा स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर निर्धारित हुई, 'त्यागपत्र' इसका प्रमाण है। शिल्प तथा कथ्य एवं कथन के स्तर पर अपनी पूर्व परम्परा के प्रति जैनेन्द्रकुमार में जो विद्रोह लक्षित होता है उसका और भी विकास 'अज्ञेय' ने अपनी कहानियों और उपन्यासों के माध्यम से किया। उनका 'शेखर : एक जीवनी' इसका चरमोत्कर्ष है, जो क्रमशः दो भागों में[1] प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास पर आज भी तरह-तरह की प्रतिक्रियाएँ देखने को मिलती हैं और अधिकांश आलोचकों ने इसे पलायनवादी, असामाजिक, व्यक्तिवादी, संस्कृति-विहीन, परम्परायुक्त तथा प्रतिक्रियावादी कहकर कमोवेश या तो अपने दुराग्रह का परिचय दिया है या इस कृति को ठीक से समझ न पाने की अपनी असमर्थता का ही। यह कृति वस्तुतः मूल्यांकन के लिए दृष्टि की समग्रता की माँग करती है और उसमें कुछ संकेत इतने सूक्ष्म एवं प्रतीकात्मक हैं कि उन्हें आग्रहों, मतवादों के सकीर्ण दायरों में स्पष्ट नहीं किया जा सकता।

यह ठीक है कि यह एक चरित्र-प्रधान उपन्यास है, जिसमें एक रात में देखे गए 'विज़न' को स्पष्ट किया गया है। शेखर का चरित्र पूरे उपन्यास पर छाया रहता है और सभी पात्र तथा स्थितियाँ उसी से दिशाएँ पाती हैं और उनके स्वरूप का निर्माण होता है। वह एक क्रान्तिकारी है और अपनी जीवन-यात्रा के अन्तिम पडाव में, जहाँ वह फाँसी के लिए प्रतीक्षारत हैं, अपने बीते हुए दिनों का प्रत्याव-लोकन करता है ताकि वह अपने तथा समाज के लिए जीवन की सिद्धि या अर्थ के नए सूत्रों का अन्वेषण कर सके। उस अन्तिम स्थिति में उसके सामने अनेक घटनाएँ, व्यक्ति एवं भावनाएँ होती हैं जिनके साथ उसका गहन सम्बन्ध रहा है और उन सबके मध्य ही उसके जीवन का अधिकाश कार्य-व्यापार घटित हुआ है,

---

1 अज्ञेय : शेखर : एक जीवनी, प्रथम भाग १९४०, द्वितीय भाग, १९४४ सरस्वती प्रेस,

इसलिए एक बिन्दु पर आकर वह आत्म-निरीक्षण भी करता है। शेखर यह आत्म-निरीक्षण मानवता के संचित अनुभवों के प्रकाश में ईमानदारी से करने का प्रयत्न करता है। शेखर एक क्रान्तिकारी है और 'अज्ञेय' के अनुसार क्रान्तिकारी अन्ततोगत्वा एक प्रकार के नियतिवादी होते हैं। लेकिन यह नियतिवाद उन्हें अक्षम और निकम्मा बनाने वाला कोरा भाग्यवाद नहीं होता। वह उन्हें अधिक निर्मम होकर कार्य करने की प्रेरणा देता है। क्रान्तिकारियों का जीवन की विज्ञान-संगत कार्य-कारण-परम्परा पर गहरा विश्वास होता है। शेखर में भी यही विश्वास है और वह नियति के सूत्रों को पहचानने की चेष्टा करता है। यह आवश्यक भी है क्योंकि उसे पहचान लेना ही 'अज्ञेय' के अनुसार जीवन को समझ लेना है, उसकी पूर्ति पा लेना है। यही इस उपन्यास का मुख्य विषय है और इसी के माध्यम से उसके जीवन के अर्थ-अभिप्राय और निष्पत्ति-सिद्धि को खोजना मूल लक्ष्य है। इसी सन्दर्भ में शेखर के व्यक्तित्व का क्रमिक विकास इस उपन्यास में चित्रित हुआ है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इस उपन्यास में चरित्र की प्रधानता है। स्वय 'अज्ञेय' ने ही प्रथम भाग में एक स्थान पर कहा है कि महत्त्व कथा का नहीं है, उस चरित्र का है, जिसकी कथा कही गई है। अतः इस उपन्यास में किसी सुसम्बद्ध कथानक को खोजना व्यर्थ होगा। जैसा कि ऊपर कहा गया है कि शेखर अपने विगत जीवन का प्रत्यावलोकन करता है, अतः किसी सुसंगठित कथानक का क्रमिक विकास सम्भव ही नहीं था। केवल छोटे-छोटे खण्ड चित्र आते हैं, जो बिखरे हुए हैं। उन्हें शेखर के वैयक्तिक अनुभवों का व्यापक दायरा भी कहा जा सकता है, जो विशृंखलित होने के बावजूद नायक के कारण एक सूत्र-बद्ध होने का आभास देता है। कहीं-कहीं तो घटनाओं का कोई खण्ड भी नहीं है, केवल विचारों का प्रवाह है और कहीं-कहीं केवल प्रतिक्रिया। इस उपन्यास में शास्त्रीय परम्पराओं के सारे सन्दर्भ टूट गए हैं और शिल्प की सजगता पर्याप्त नवीनता का आभास देती है। यही कारण है कि चरित्र-प्रधान उपन्यास होते हुए भी उसके परिवेश का इतना विस्तार हो गया है। इसमें शेखर के अनुभवों के जो वृत्तान्त आए हैं, वे वैयक्तिक होते हुए भी नितान्त व्यक्तिगत नहीं है और उनकी सामाजिकता में कोई सन्देह नहीं प्रकट किया जा सकता।

प्रश्न उठता है कि यह सामाजिकता किस प्रकार की है ? मैं ऊपर कह चुका हूँ कि यह उपन्यास उस समय रचा गया, जब हिन्दी उपन्यासों की दिशा स्थूल सामाजिकता से सूक्ष्म सामाजिकता की ओर मुड़ चुकी थी। इस उपन्यास मे भी वही सूक्ष्म सन्दर्भ सामाजिक परिवेश में विकसित हुए हैं। जिन स्थितियों को लिया गया है, उनमें से अधिकांश स्वस्थ पक्ष से सम्बन्धित नहीं हैं। लेकिन मानव-जीवन में सभी कुछ स्वस्थ ही तो नहीं है और सारी नियति सत्यं शिवं सुन्दरम् से सम्बद्ध है विशेष रूप से आधुनिक सन्दर्भों में जहाँ जीवन के मूल्य एकदम

बदल गए हैं, विज्ञान ने एक नई क्रान्ति उत्पन्न कर दी है और मानव प्रतिबद्धता में अभूतपूर्व अन्तर आ गया है, वहाँ मनुष्य के निजी व्यक्तित्व की आवश्यकता अधिक अनुभव की जाने लगी। यह ठीक है कि इस परिवर्तनशीलता से वह सब-कुछ उपलब्ध नहीं हुआ जिसकी वांछा थी और अधिकांश रूप में जीवन का विघटन ही हुआ है। इस उपन्यास में 'अज्ञेय' ने बड़ी कुशलता से उस विघटित होने वाली स्थिति की भयंकरता के प्रति ध्यान आकृष्ट करने की चेष्टा की और जीवन का सार तत्त्व उभारा है—अहं का उन्मूलन।

'अज्ञेय' ने इस अहं का उन्मूलन सामाजिक संस्कारशीलता में करने की चेष्टा की है। वे इसे मानव-विकास में बाधक मानते है, इसीलिए क्रमशः शेखर अपने निजत्व का विस्तार करता है। अहं, भय और सैक्स—ये तीनों मानव-जीवन को अनुशासित करने वाली सहजात प्रवृत्तियाँ हैं। लेखक की धारणा है कि 'मानव इन्हें अपनी मानवता के साथ ही पाता है, बाद की परिस्थिति या व्यवहार से नहीं।' शेखर जब तीन वर्ष का है तो लैटर बाक्स पर बैठकर दूसरों का मज़ाक उड़ाता है और डाकिये के कहने से उसके पाँव कुचलते हुए भाग खड़ा होता है। यह अहंता का प्रतीक है। फिर वह अजायबघर में नकली बाघ को देखकर भाग खड़ा होता है, जो भय को स्पष्ट करता है। किसी अनुचित-वर्जित दृश्य को देखकर उसके मन में जो भावनाएँ-प्रेरणाएँ उत्पन्न होती हैं, वे कुछ और नहीं, सैक्स भाव को मुखर करती है। शेखर इन तीनों प्रवृत्तियों को अनुशासित करने का प्रयत्न करता है, 'यही उसका विश्वास अब भी है कि जब कभी कोई भयानक वस्तु देखो, तब डरो मत, उसका बाह्य चाम काट डालो, उसके भीतर भरी हुई घास-फूस निकालकर बिखरा दो, और हंसो! इसने उसे उद्धत बनाया है, लोग कहते हैं कि विध्वंसक और हिंस्र भी बना दिया है, पर वह जानता है··· उस चाम को फाड़ देने पर, उसे दण्ड मिला था। और उसके बाद, कई बार ऐसे मिथ्या डर का नाश करने पर उसे दण्ड मिला था, क्योंकि डर के बिना समाज का अस्तित्व नहीं ठहर सकता। और आज, वह एक ऐसे भीमकाय डर का भीतरी खोखलापन दिखाने के अपराध में पकड़ा गया है, और दण्ड की प्रतीक्षा में है। और क्योंकि उसने संसार के सबसे बड़े डर—शासन के डर—पर आघात किया है, इसलिए उसका अपराध सबसे कठोर दण्ड मांगता है···किन्तु वह हंसता है, क्योंकि उसने विजय पाई है।" यह भय-प्रवृत्ति बाह्य है, जो अन्तरमन में अपराध की अनुभूति उत्पन्न करती है। प्रायः बच्चे इसी प्रवृत्ति के वशीभूत होकर बचपन में ही अपराधी बन जाते हैं और वह सब-कुछ करने की उद्दाम लालसा उनके मन में समा जाती है, जो उनके लिए वर्जनीय है और वांछनीय नहीं है।

शेखर इस पर 'एक आन्तरिक, स्वतः उत्पन्न ग्लानि' से नियंत्रण प्राप्त कर लेता है और उस रास्ते पर जाने से बच जाता है, जिस पर प्रायः बच्चे चल

पड़ते हैं। उसमें इस प्रकार अपरिमित बुद्धि है, किन्तु उस बुद्धि की प्रवाह गति का निर्देश करने वाली शक्ति संसार में नहीं थी। वह बुद्धि उसकी थी, उसके उपयोग के लिए थी। वह उसका मनचाहा उपयोग करता था। और वह जानता था, जहाँ उसने अपनी सहजबुद्धि की प्रेरणा मानी, वहाँ उसने उचित किया और जहाँ उसकी बुद्धि को दूसरों ने प्रेरित किया, वहीं वह लड़खड़ाया ···"शेखर मे यह बुद्धि बहुत हद तक असामान्य-सी प्रतीत होती है और उसके व्यक्तित्व मे अतिरिक्त विशिष्टता का वोध देती है।" इस विशिष्टता को झुठलाने का प्रयत्न 'अज्ञेय' ने नहीं किया है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा, "ऐसा भी होता है कि कभी किसी बात का प्रभाव बढ़ जाता है और कभी किसी-किसी का और इसके फलस्वरूप मेरे कार्यों में प्रतिकूलता, एक असम्बद्धता आ जाती है जिसे मुझे बाह्य रूप में समझने वाले नहीं समझ सकते, किन्तु वह मेरे व्यक्तित्व में आकर एकीभूत हो जाती है, हल हो जाती है। कभी ऐसा भी होता है कि कभी किसी खण्ड की प्रधानता नहीं होती तब वे मन क्षेत्र के विभिन्न केन्द्रों पर अधिकार करने हैं और यदि हाथ एक के नियन्त्रण में होते हैं तो मुख दूसरे के या चेतना एक के तो शारीरिक परिचालन दूसरे के। तब मैं ऐसा ही दीखता हूंगा जैसे कोई मशीन, जिसके पुर्जे उलझ गए हों किन्तु जिसकी गति बन्द न हुई हो।" कहना न होगा कि यह आत्म-विश्लेषण ही शेखर को दूसरों से अलग करता है और उसके चरित्र को विशिष्टता प्रदान करता है।

बाल-मनोविज्ञान के अनेक मार्मिक प्रसंगों का उल्लेख कर 'अज्ञेय' ने शेखर के व्यक्तित्व में विकास किया है। स्थान-स्थान पर उसकी मानसिक प्रतिक्रिया, उतार-चढ़ाव तथा कुण्ठा-वर्जना या ग्रन्थियों का स्वरूप सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक धरातल पर उद्घाटित हुआ है। अपनी बहन सरस्वती के विवाह से वह बहुत प्रसन्न नहीं है। उसे क्षोभ है कि उसका विवाह बाहर क्यों हो रहा है, यहीं किसी से क्यों नहीं हुआ। विवाह वाले दिन उसे १०३ डिग्री बुखार है। बाद में उसे निमोनिया भी हो जाता है। इसकी पृष्ठभूमि में यह मनोवैज्ञानिक सत्य स्पष्ट हुआ है कि अपनी बहन पर से अधिकार छीना जाते देखकर वह अव्यवस्थित हो जाता है और वह अस्वस्थ होकर दूसरों की सहानुभूति प्राप्त करता है। उसका चोरी करना, स्कूल में उद्दण्ड होना, अध्यापकों के साथ विनयशीलता न प्रदर्शित करना आदि इसलिए है, क्योंकि मूल में माता-पिता की असावधानी या उनका त्रुटिपूर्ण व्यवहार है। इसका विश्लेषण स्वयं शेखर इस प्रकार करता है, "लोग प्रायः भूल ही जाते हैं कि उनके जीवन क्या रहे। तभी समाज अपने लिए यह सम्भव पाता है कि विधान करे, 'योग्य माता-पिता वे हैं, जो बच्चों को वयःप्राप्त लोगों की तरह रहना सिखाएँ।' इस एक भावना ने यौवन का जितना अपघात किया है उतना शायद ही किसी और कानून या प्रथा या विधान ने किया हो यदि

माता-पिता अपना बचपन याद भर रख सकते तो उनकी सन्तान और वे स्वय, कितने सुखी होते ! ···किसने नहीं सुना, "अरे इसके सामने कहने में क्या हर्ज है, यह तो बच्चा है !" "अरे, उसे क्या पता वह तो बच्ची है !" 'उत्तरदायित्व-शून्य' बच्चे की निष्कपटता का उत्तरदायित्व कितना बड़ा है, वे भला क्या समझे! वे कोमल, अविकसित मस्तिष्क, अपनी कोमलता के कारण ही अधिक भयकर होते हैं। हम लोग पक्की सडक पर चलते हैं,तब हमारे पाँवों की छाप नहीं पड़ती, लेकिन जब ढीली मिट्टी पर, धूल पर, रेत पर चलते हैं, तब पैर बहुत गहरा धस जाता है। पक्की सड़क पर पानी बह जाता है, कच्ची पर जहाँ-जहाँ धँसे हुए पैरों से गड्ढे बने होते हैं, वहाँ कीच बनती है।···यह एक कटु सत्य है, जिसे अस्वीकार नहीं जा सकता।

प्राय: कहा जाता है कि अमुक पर उसके माँ-बाप का प्रभाव पड़ा है। यह इसी मनोवैज्ञानिक सत्य को प्रमाणित करता है।बाल-जीवन में शिशु सबसे अधिक अपने माता-पिता के ही सम्पर्क में रहता है और उनकी वर्जनीय-अवांछनीय बातो की स्वतन्त्रता जहाँ एक बुरे व्यक्तित्व का निर्माण कर सकती है और मनुष्य की सारी सम्भावनाओं को विघटित कर सकती है, वहीं उनके संस्कार, आदर्श एव सयम एक श्रेष्ठ व्यक्तित्व का निर्माण कर सकते हैं। इस प्रकार लेखक की धारणा है कि बना-बनाया व्यक्तित्व नहीं उत्पन्न होता, वरन् परिस्थितियो के सन्दर्भ में निर्मित होता है, "मूर्ति का निर्माण हो सकता है,मृत्तिका का नहीं। उसी मिट्टी से अच्छी प्रतिमा भी स्थापित की जा सकती है, बुरी भी, पर जहाँ मिट्टी ही न हो, वहाँ कितने भी प्रकार से, कितनी भी शिक्षा से, कितने भी जाज्वल्यमान् बलिदान से मूर्ति नहीं बन सकती। शेखर को प्रारम्भ में ऐसी परिस्थितियाँ प्राप्त होती हैं, जिनमें उसका व्यक्तित्व विद्रोही बनता जाता है। बात-बात मे वह अपना अधिकार जताना चाहता है और अपने स्वत्व का प्रदर्शन करता है। उसका स्पष्ट मत है, "मुझे मूर्ति उतनी नहीं चाहिए, मुझे मूर्ति-पूजक चाहिए। मुझे कोई वैसा उतना नही चाहिए जिसकी ओर मैं देखूं, मुझे वह चाहिए, जो मेरी ओर देखे। यह नहीं कि मुझे आदर्श पुरुष नहीं चाहिए, पर उन्हें मैं स्वय बना सकता हूँ। मुझे चाहिए आदर्श का उपासक, क्योंकि वह मैं नहीं बना सकता। अपने लिए ईश्वर रचना मेरे बस में है लेकिन मेरी ईश्वरता का पुजारी—वह नहीं···।" यही कारण है कि उसके जीवन में सरस्वती, शीला, शान्ति तथा शशि आदि जो भी लड़कियाँ आती हैं, उनका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं होता, वे शेखर की उपासना करती हैं, क्योंकि इसकी उसे वांछा है। यह दूसरी बात है कि बाद मे इनमें से अनेक की, विशेष रूप से शशि की विशेषताओं से वह स्वयं प्रभावित हो जाता है और आत्म-ग्लानि के वशीभूत होकर अपने अहं को तोड़ने और अपने को परिवर्तित करने की चेष्टा करता है।

विराट-व्यापक प्रेम की सामर्थ्य तथा एक तटस्थ सात्विक घृणा की क्षमता ही शेखर में क्रान्तिकारी भावना उत्पन्न करती है। ये प्रवृत्तियाँ उसके व्यक्तित्व के विकास में प्रत्येक स्तर पर परिलक्षित होती हैं। वह अपनी माँ तक से घृणा करता है। किन्तु अहं के वशीभूत होकर घृणा का पहला पाठ पढ़ाने का श्रेय वह अपनी माँ को नहीं देता। असहयोग आन्दोलन के दिनों में वह विदेशी शक्ति से तीव्र घृणा करने लगता है। यहाँ तक कि उनकी वेश-भूषा और भाषा तक के प्रति अत्यन्त तीव्र घृणा उसके मन में व्याप्त हो जाती है। इसकी तुलना में अपने देशवासियों, अपने नेताओं तथा अपनी भाषा से उसका प्रेम बढ़ता जाता है। इस प्रेम और घृणा को वह अलग नहीं कर पाता क्योंकि "जहाँ प्रेम जितना उग्र होता है, वहाँ वैसी ही तीखी घृणा भी होती है।" यही कारण है कि सरस्वती, शीला, शारदा, शान्ति के प्यार को वह समग्र रूप में नहीं ग्रहण कर पाता क्योंकि "वह अधिक-से अधिक एक हल्का-सा आत्मद्रव ही होता है। उसमें वह सम्पूर्ण आत्म-प्रणति नहीं होती, वह आत्मोसर्ग नहीं होता जिसे प्यार का पूरा नाम दिया जा सके।" इसी प्रकार कालेज जीवन में अपने एक वर्ष बडे सहपाठी—मित्र कुमार के प्रति काम भावना से आकर्षित होता है और उसे चेतावनी भी दे देता है कि यदि मेरे अतिरिक्त तुम और किसी के हुए, तो मैं तुम्हारा गला घोट दूंगा। प्यार और घृणा उसके बाद के जीवन में भी समान स्तरों पर विकसित होती रहती है।

प्रेम और घृणा की यह भावना उसके माता-पिता के सन्दर्भ में और अधिक स्पष्ट हुई है। बल्कि बहुत सीमा तक उसके अन्दर ये दोनों भाव अपने माता-पिता के कारण ही उत्पन्न होते हैं। पिता की कठोरता से निश्चय ही उसके अन्दर असाधारणता और निर्ममता के साथ विद्रोह-भाव उत्पन्न होता है, किन्तु मां की परवशता के कारण उसके प्रति वितृष्णा भाव और उपेक्षित दृष्टिकोण विकसित होता है। दोनों से वह अनेक बार पिटता है। पिता किसी कारणवश ही उसे पीटते हैं, जिसके कारण उसके मन में विपरीत प्रतिक्रिया नहीं उत्पन्न होती और पिटने के बावजूद वह उन्हें 'पूजता' है। पिता भी इसका प्रतिदान देते हैं और दोनों की भावनाओं में एकरूपता स्थापित हो जाती है। किन्तु माँ का पीटना कभी कभी व्यर्थ के सन्देहों के कारण अकारण भी होता है, जिससे उसमें उद्दण्डता आती है और विद्रोह-भाव। वह उद्धत हो जाता है। इन कारणों को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है, "माँ की ओर आकर्षित पुत्र और पिता की ओर आकर्षित कन्या साधारणता की ओर, सामान्यता की ओर जाते हैं और पिता की ओर आकृष्ट पुत्र, माता की ओर आकृष्ट कन्या असाधारण होते हैं। पहली श्रेणी मे मिलेंगे सीधे-सादे शान्त आदमी, सामान्य स्त्रियाँ, जिनमें कोई खास बुराई नही है जो ——— प्रसन्न और सन्तुष्ट हैं जो जीते हैं रहते हैं और मर जाते

है, दूसरी में मिलेंगे प्रतिभावान लेखक और कवि, देश और संसार को बदल देने वाले सुधारक, क्रान्तिकारी, डाकू, जुआरी, पतित से पतित, मानवता के प्रति अच्छे या बुरे, उनके लिए साधारणता नहीं है, वे सुलग नहीं सकते, फट ही सकते हैं। शेखर साधारण नहीं था, और अपने पिता का उपासक था।" यही वह मूल भाव है, जिसके धरातल पर शेखर का व्यक्तित्व विकसित होता है और निरन्तर असाधारण बनता जाता है। असाधारण ही नहीं, अनेक अर्थों मे अत्यन्त विशिष्ट भी।

इन प्रसंगों के उल्लेख से यह नहीं सोचना चाहिए कि शेखर में नितान्त वैयक्तिक भाव ही है, उसमें सामाजिकता नहीं है। उसमें सहृदयता, मानवीय सहानुभूति एव व्यापक करुणा के साथ व्यापक सामाजिक अनुभूति भी है। उसमें संवेदनशीलता और सामाजिक संचेतना के विकास करने में अन्य लोगों के साथ बाबा मदनसिंह का विशेष हाथ रहता है। वह उन निर्धन बच्चों के प्रति सहानुभूति के भाव से ओत-प्रोत हो जाता है, जिनको खिलौने और फल नहीं प्राप्त होते। कॉलेज-जीवन मे वह मालाबार प्रदेश की यात्रामात्र इसीलिए करता है ताकि वह स्वयं देख सके कि अछूत वर्ग पर ब्राह्मण वर्ग किस प्रकार अत्याचार कर रहा है। वह इतनी करुणा से भर जाता है कि इसी अत्याचार की शिकार एक मरणासन्न नारी को पीठ पर लादकर अस्पताल पहुँचाने का कार्य कर अपने सामाजिक दायित्व का निर्वाह भी करता है। वह एक अन्य स्थान पर एक असहाय महिला को गाड़ी मे चढने में सहायता देता है और इस प्रक्रिया में एक व्यक्ति से झगड़ा मोल लेता है तथा उसकी अच्छी खातिर भी करता है। पशु-पक्षियों तक के प्रति उसके मन में करुणा है। बचपन में उसके मनोरंजन के लिए पिंजरे में बन्द पक्षियों को देखकर उसे विशेष प्रसन्नता नहीं होती। उन्हें स्वतन्त्र छोड़ने में उसे संतोष होता है। यही नही, वह आगे चलकर पिछड़े हुए असहाय-निर्धन लोगों, विशेषतया उनके बच्चो के लिए एक रात्रि-पाठशाला की स्थापना करता है तथा उसमें पढ़ाता है। वह निम्नजातीय विधवा तक को भी उचित सम्मान देता है और 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक देखते समय अश्रु-प्लावित होकर अपनी संवेदनशीलता का परिचय देता है।

बाबा मदनसिंह प्रारम्भ से ही उसके मन में यह भाव भर देते हैं कि पीडा तपस्या है, किन्तु असली तपस्या तो जिज्ञासा है—क्योंकि वही सबसे बड़ी पीडा है। वे उसे बताते हैं कि अभिमान से भी बड़ा दर्द होता है पर दर्द से बड़ा एक विश्वास। निस्सन्देह इसका शेखर के ऊपर बड़ा प्रभाव पड़ता है और उसमें एक नया आत्मविश्वास जन्म लेता है, जो अन्त में उसके चरित्र को सर्वथा नई दिशा दे देता है। इस कथन की सार्थकता शशि के सन्दर्भ में सबसे ज्यादा सिद्ध होती हैं। शेखर स्वीकारता है, "आदर्शों का अभिमान आसान है, विवाह का हिन्दू आदर्श, गृहस्थ-धर्म, सतीत्व का हिन्दू आदर्श है किन्तु अभिमान की करही के नीचे आदर्श [illegible] पत्नी क्या कभी कहता है कि [illegible] दब गया है ? गृहस्थ धर्म उभयमुखी

होता है, किन्तु आज के जीवन में नारी पुरुष के उपभोग की साधन रह गई है, निरी सामग्री, जिसे वह जब चाहे, अपनी तुष्टि की आग में होम कर दे। और उसकी अपील नहीं है, क्योंकि स्त्री कभी दुहाई दे, तो उत्तर स्पष्ट है कि 'और शादी की किसलिए जाती है ?' यह आदर्श नहीं, आदर्शों की समाधि है, देह नहीं, सदियों से सूखी त्वचा में निर्जीव हड्डियों का ढाँचा है। यह निश्चय ही आधुनिक नारी की समस्या को स्पष्ट करता है और लेखक का ज्वलन्त सामाजिक समस्याओं से पलायन नहीं, साक्षात्कार करना है। शशि के माध्यम से लेखक ने सड़ी-गली परम्पराओं एवं जड़ मान्यताओं को स्पष्ट किया है और उसकी दुर्गति प्रतीकात्मक रूप से स्पष्ट करती है कि आज की नारी की वास्तविक स्थिति क्या है। इस दुर्गति में ही परिवर्तन की अनिवार्यता सन्निहित है कि जब तक सारी व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन नहीं होगा, नारी परवश होकर इसी प्रकार अपना निजत्व मिटाती रहेगी। उसके माध्यम से अनेक सामाजिक-नैतिक तथा धार्मिक प्रश्न मुखर हुए हैं।

इसी प्रकार प्रेम की समस्या पर भी गहराई में विचार किया गया है। प्रेम वैयक्तिक ही नहीं, सामाजिक समस्या भी है, विशेषतया आधुनिक सन्दर्भों में। इस उपन्यास में प्रेम को आत्मोन्नति के लिए साधन बताया गया है और प्रचलित नैतिक मान्यताओं का तिरस्कार कर नए नैतिक मानदण्ड स्थापित किए गए हैं। यद्यपि ये नए नैतिक मूल्य बहुत-से लोगों को ग्राह्य नहीं हो सकते, किन्तु इस सबंध में आग्रह या दुराग्रह बनाने के पूर्व यह स्मरण रखना चाहिए कि लेखक ने प्रेम को आत्म-विकास के लिए आवश्यक बताया है। शेखर इस सम्बन्ध में समाज-भय को तिरस्कृत नहीं करता। वह उस प्रेम को अवांछनीय मानता है जो समाज की दृष्टि में पाप है। वह प्रेम की पवित्रता में विश्वास करता है, इसलिए प्रेम को एक नैतिक समस्या मानता है. 'सभी प्यार—प्यार मात्र—मूलतः एक समस्या है और दो इकाइयों तक सीमित नहीं है···कितने सूत्र—पक्के और दुर्बल, मोटे और सूक्ष्म, सीधे और आड़े, उस समस्या से उलझे हुए हैं और उसे विकट बनाते हैं···मूल समस्या सामंजस्य की है, प्यार एक आकर्षण है, एक शक्ति, जिसमें जीवन की स्थितिशीलता विचलित हो जाती है, वह विचलन की समस्या है क्योंकि यह व्यापक है और मौलिक, जीवन के 'तरवार की धार पर'—असंख्य धारों पर ! सधे हुए समतोल को डगमगा जाती है···तब तक समस्या है जब तक कि उतना ही व्यापक सामंजस्य फिर न खोज निकाला जाए···समस्या है और साधना है, तपस्या है···।" इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्रेम दो इकाइयों तक सीमित नहीं है और वह व्यापक है। इसकी सामाजिकता को अस्वीकारा नहीं जा सकता। शेखर आत्म-विश्लेषण करते हुए स्वयं भी स्पष्ट करता है कि "मेरे व्यक्तिगत-जीवन में मानव के समष्टिगत जीवन का भी इतना अंश है कि समष्टि उसे समझ सके और उनमें अपने जीवन की झलक पा सके मेरे जीवन में भी व्यक्ति और टाइप का वह घोल

है, जिसके बिना कला नहीं, और जिसके बिना फलतः उपन्यास नहीं।" यह कथन शेखर के व्यक्तित्व के सन्दर्भ में बहुत सार्थक है। वस्तुतः वह व्यष्टि से समष्टि की ओर जाता है और अनेक स्थितियों तथा पात्रों के माध्यम से उसके अनुभवों का दायरा इतना व्यापक हो जाता है कि बड़ी मार्मिक सहजता से वह अपने अहं का उन्मूलन कर पाता है तथा अपने जीवन को उचित दिशा दे सकने में समर्थ हो पाता है। शेखर की सामाजिकता निर्विवाद है।

जैसाकि मैंने प्रारम्भ में ही कहा, इस उपन्यास का शिल्प नूतन है। इसमें डायरी शैली, पत्र शैली, स्मृत्यावलोकन, उद्धरण शैली एवं आत्म-संलाप आदि शैलियों का अद्भुत समन्वय हो गया है। वस्तुतः अज्ञेय ने इस उपन्यास में शास्त्रीय परम्पराओं की सभी मान्यताओं के प्रति विद्रोह किया है और प्रत्येक स्तर पर शिल्प-सम्बन्धी सजग नवीनता लक्षित होती है। कहना यह चाहिए कि हिन्दी उपन्यास शिल्प को 'शेखर : एक जीवनी' ने अर्थ की नई गरिमा प्रदान की है। अनेक काव्य उद्धरणों से पात्रों की विभिन्न मनः-स्थितियों को स्पष्ट करने अथवा वातावरण के रंग को गहरा करने का इसमें पहली बार सफल प्रयोग किया गया है। प्रकृति-चित्रण एवं स्थान-स्थान पर सामाजिक परिवेश का अत्यन्त यथार्थ एवं मानवीय चित्रण इस उपन्यास में हुआ है जिससे इसकी अर्थवत्ता में वृद्धि हुई है। अज्ञेय की भाषा मूलतः काव्यात्मक है। वे कवि हैं और इस उपन्यास में जिस गद्य-शैली का प्रयोग हुआ है, उससे उनका कवि-व्यक्तित्व असम्पृक्त नहीं हो पाया है, इससे उपन्यास में एक विशिष्ट रागात्मक बोध की उत्पत्ति हुई है। भावों की अनूठी अभिव्यंजना, अर्थ की गम्भीरता एवं शब्दों के कुशल चमत्कार से इसकी भाषा नए प्रतिमान स्थापित करती है।

कुल मिलाकर 'शेखर : एक जीवनी' हिन्दी उपन्यास-साहित्य की अनूठी उपलब्धि है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इसमें व्यक्ति भी है और समाज भी। व्यक्ति को सन्देश है कि वह अपनी उपयोगिता सिद्ध करे अर्थात् समाज की नियामक शक्ति बने। समाज से इस बात की कामना की गई है कि उसकी महत्ता तभी तक है जब तककि व्यक्ति की निजता भी बनी रहेगी। समाज उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता। इस प्रकार शेखर के माध्यम से व्यष्टि सत्य के साथ समष्टि सत्य को पाने और दोनों में परस्पर सन्तुलन स्थापित करने की चेष्टा इस उपन्यास में प्राप्त होती है और यही बात 'शेखर : एक जीवनी' को सार्थक आधुनिक बोध एवं विशिष्टता प्रदान करती है।

सांस्कृतिक परम्पराओं का प्रत्यावलोकन : 'बाणभट्ट की आत्मकथा'

यद्यपि हिन्दी में ऐतिहासिक उपन्यासों की परम्परा बहुत लोकप्रिय नहीं हुई किन्तु निश्चय ही कुछ महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक उपन्यास लिखे गए हैं, जिनमें 'बाणभट्ट की आत्मकथा'[1] का उल्लेखनीय स्थान है। ऐतिहासिक उपन्यासों की परम्परा पूर्व प्रेमचन्द काल में ही प्रारम्भ हो गई थी और किशोरीलाल गोस्वामी तथा राधाकृष्ण दास ने कुछ सुन्दर ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना की थी। हालाँकि इन उपन्यासों का मुख्य विषय किसी ऐतिहासिक सत्य का उद्घाटन करना नहीं, पाठकों का मनोरंजन करना था, किन्तु इन उपन्यासों के प्रारम्भिक स्वरूप को देखते हुए उन्हें उनके महत्त्व से वंचित नहीं किया जा सकता। आगे चलकर इस परम्परा का यथेष्ट विकास वृन्दावनलाल वर्मा ने किया और 'गढ़कुण्डार', 'मृगनयनी' तथा 'झांसी की रानी' आदि कुछ अच्छे ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना की। लेकिन वर्माजी के ऐतिहासिक उपन्यासों की बड़ी सीमाएँ हैं। उनमें दृष्टि की वह गहराई नहीं प्राप्त होती, जो अपेक्षित थी। इनमें कोई काल उस यथार्थ ढग से हमारे सामने सजीव नहीं होता, जैसे वाल्टर स्कॉट के उपन्यासों में। वर्मा जी मूलतः किस्सागो शैली के उपन्यासकार थे और सरस-मनोरंजक ढंग से कथा प्रस्तुत करना एवं आदर्श निरूपण करना उनका उद्देश्य था। उन्होंने ऐतिहासिक यथार्थवाद एवं मानव सत्यता का उतना ध्यान नहीं रखा है, जितना आदर्शवाद का। कहीं-कहीं यह आदर्शवाद इतना जड़ हो गया है कि सारी स्थितियाँ बड़ी अस्वाभाविक प्रतीत होने लगती हैं। फिर भी वर्माजी ने हिन्दी उपन्यासों के एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति की है, यह निर्विवाद है। उन्होंने एक विशिष्ट परम्परा को निश्चय ही नए रंग देने की चेष्टा की है।

ऐतिहासिक उपन्यास मात्र तिथियों एवं घटनाओं के आकलन मात्र नहीं हैं। कोई भी ऐतिहासिक उपन्यास तब तक अधूरा है, जब तक घटनाओं एवं तिथियों के साथ मानवीय अन्तरात्मा का साक्षात्कार नहीं होता। यदि मानवीय विशिष्टता

---

१ हजारी प्रसाद द्विवेदी : 'बाणभट्ट की आत्मकथा', (१९४६), हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बम्बई, पृष्ठ २१४।

यथार्थ के बोध नहीं प्राप्त कर पाती, तो वह उपन्यास नहीं एक निर्जीव कृति है और उसमें तथा इतिहास ग्रन्थ में कोई अन्तर नहीं। ऐतिहासिक उपन्यास मे कल्पना के साथ सत्य का समन्वय करके ही मानवीयता का रंग प्रखर एवं विश्वसनीय होता है। इतिहास में जिस नवाब सिराजुद्दौला या शाहजहाँ का वर्णन होता है, वे हमारे लिए निर्जीव हैं, मानव नहीं है, इसीलिए अमहत्त्वपूर्ण है। उपन्यासकार जब इन्हीं नवाब सिराजुद्दौला या शाहजहाँ को कथा-पात्र बनाता है, तो अपनी कल्पना का आश्रय ग्रहण कर उनमें मनोभावों, अनुभूतियों एवं यथार्थ प्रतिक्रियाओं के प्राण भरकर मानवीय बनाने की चेष्टा करता है तथा उनकी अन्तरात्मा के रहस्य लोक का उद्‌घाटन कर उन्हें यथार्थ के धरातल पर प्रतिष्ठित करता है। यह जितना ही व्यापक एवं विश्वसनीय होता है, उपन्यास उतना ही सफल बनता है।

इस पृष्ठभूमि में यदि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' का मूल्यांकन किया जाए, तो कतिपय उल्लेखनीय विशेषताएँ लक्षित होती हैं, जो इस कृति को 'मृगनयनी', 'चित्रलेखा', 'दिव्या' तथा 'वैशाली की नगरवधू' से अलग करती हैं और यह एक विशिष्ट उपन्यास बन जाता है। इस उपन्यास में केवल घटनाओं एवं तिथियो का आकलन भर नहीं है। इसमें जहाँ व्यापक युग सत्य को पाने की चेष्टा की गई है, वहीं इने-गिने पात्रों को लेकर उनके व्यक्तित्व की समग्रता भी स्थापित की गई है। यही कारण है कि एक ओर जहाँ एक युग विशेष की राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक परम्पराओं की सूक्ष्म व्याख्या की गई है, वहीं दूसरी ओर मानव मूल्यों को भी स्पष्ट करने का प्रयत्न हुआ है। यह एक प्रकार से सांस्कृतिक परम्पराओं का प्रत्यावलोकन है, किन्तु यह निर्जीव या अस्वाभाविक आदर्शवाद के धरातल पर नहीं, स्वाभाविकता एवं सहजता की पृष्ठभूमि में। इस सारे वर्णन की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि यह जितना ऐतिहासिक है, उतना ही सामयिक भी। यह लेखक का अभिनव कौशल ही है कि जिन स्थितियों एवं समस्याओं को उसने उठाया है, वे अपने काल सन्दर्भ में तो सार्थक हैं ही, उनकी उपयोगिता आधुनिक सन्दर्भों में भी उतनी ही सार्थक है। लेखक ने उनके चुनाव में पर्याप्त सतर्कता अपनाई है और इसीलिए उसका परिवेश अत्यन्त व्यापक हो गया है।

द्विवेदीजी ने 'कथा मुख' में स्पष्ट किया है, "आगे जो कथा दी हुई है वह दीदी (आस्ट्रिया की मिस कैथराइन की खोज में प्राप्त बाण की आत्मकथा) का अनुवाद (हिन्दी में) है और फुटनोट में जो पुस्तकों के हवाले दिए हुए हैं, वे मेरे हैं। कथा ही असल में महत्त्वपूर्ण है, टिप्पणियाँ तो उसकी प्रामाणिकता के सबूत हैं।" इस प्रकार लेखक ने अपने को उपन्यास से तटस्थ रखने की भरसक चेष्टा की है, साथ ही यह विश्वास दिलाने की भी कि यह सचमुच बाणभट्ट की लिखी हुई अपनी मौलिक है। इसमें कोई शक नहीं कि इस प्रयास मे लेखक

को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। किन्तु यह शिल्प सम्बन्धी कोई मौलिक प्रयोग नहीं है। इसके पूर्व जैनेन्द्र कुमार 'त्यागपत्र' (१९३७) में इसका सूत्रपात करके पी० दयाल के माध्यम से यह स्पष्ट करते हैं कि यह पी० दयाल की लिखी हुई है उनकी नहीं। उन्होंने इसे केवल यत्र-तत्र सम्पादित करके प्रस्तुत भर कर दिया है। इसके बाद राहुल सांकृत्यायन ने 'सिंह सेनापति' (१९४२) में भी इसी शिल्प का प्रयोग करते हुए भूमिका में लिखा है कि यह पुस्तक छपरा की खुदाई में प्राप्त ईंटों पर लिखी सेनापति सिंह की पुस्तक का अनुवाद भर है—और पाठकों को यदि उनकी सच्चाई पर सन्देह है, तो वे उन सोलह सौ ईंटों को पटना म्यूज़ियम में देख सकते हैं। लेकिन द्विवेदीजी ने 'आत्मकथा' की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए एक कदम आगे जाकर बाण की अन्यकृतियों के सन्दर्भ में इसका मूल्यांकन भी किया है और अनेक पाद-टिप्पणियाँ देकर अपने को पूर्णतया तटस्थ सिद्ध किया है। वैसे सत्य यह है कि बाण ने अपनी कोई आत्मकथा नहीं लिखी है। 'हर्षचरित' के प्रथम तीन उच्छ्वासों एवं 'कादम्बरी' के प्रारम्भ में बाण ने आत्मकथा एवं आत्मवंश परिचय विस्तार से लिख दिया है।

अतः जो लोग इस उपन्यास की आलोचना इस आधार पर करते हैं कि इसमें कथा-प्रवाह नहीं है या अतिशय गम्भीरता है, वे यह भूल जाते हैं कि लेखक की शिल्प-सजगता इसमें है कि पुस्तक का स्वरूप 'आत्मकथा' से विचलित न होने पाए। बाण की सभी रचनाओं की लगभग यही स्थिति है। स्वयं 'कादम्बरी' में भी रमणीयता उतनी नहीं प्राप्त होती, जितना उक्ति-वैचित्र्य एवं चमत्कार। उसमें नायक-नायिका के वर्णन में जितना शिल्प कौशल प्राप्त होता है, उतना ही गौण या अमहत्त्वपूर्ण प्रसंगों के वर्णन में। फिर उसी बाण की 'आत्मकथा' में काव्य-मोह की उपेक्षा एवं कथा-रस की प्रतिष्ठापना कैसे प्राप्त होती। यह 'आत्मकथा' इसीलिए अधूरी है क्योंकि बाण की दूसरी रचनाएँ भी अपूर्ण हैं। बाण का कहना है, "यद्यपि मैं योजना बनाकर कोई कार्य नहीं कर पाता और यही कारण है कि मैं कोई भी पुस्तक समाप्त नहीं कर सका – पर निश्चय करने में बिल्कुल देर नहीं करता।" इस उपन्यास में स्वयं लेखक के अनुसार सर्वत्र प्रेम की व्यंजना गूढ़ और अदृप्त भाव से प्रकट हुई है। एक जानकार ने इसे लेखक की साहसहीनता का प्रतीक अथवा अनावश्यक नैतिक संयम कहा है। इस धारणा में बहुत बल नहीं है। यह साहसहीनता का प्रश्न नहीं, मूल्यों के निर्वाह एवं स्वाभाविकता की रक्षा का भी है। प्रारम्भ में ही मैं कह चुका हूँ कि इस उपन्यास में सांस्कृतिक परम्पराओं का प्रत्यावलोकन किया गया है।

आज आधुनिकता का फैशन इतना तीव्रतर हो गया है कि आदर्श एवं नैतिक संयम दुर्गन्धपूर्ण चीज़ें समझी जाने लगी हैं और 'लेखक' बनने के लिए उनसे परहेज करना अनिवार्य हो गया है। आदर्श के आरोपण का कोई भी पक्षधर नहीं बन

सकता, लेकिन अनैतिकता एवं अवाञ्छनीय स्थितियों के उद्घाटन के दुराग्रह को भी समर्थन नहीं दिया जा सकता, जिसकी नियति तथाकथित अत्याधुनिक साहित्य में स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। यदि मात्र संकेतों से उद्देश्य पूर्ण हो जाता है, तो अदृप्तभाव अनावश्यक क्यों हो जाता है ? फिर लेखक का कार्य अनैतिकता की वकालत करना नहीं, उपयोगी नैतिक मूल्यों की स्थापना करना है। वह रूढ, जड एवं समय के सन्दर्भों में अनावश्यक नैतिकता की वकालत नहीं करता, लेकिन अतीत और वर्तमान की श्रेष्ठता में सन्तुलन स्थापित करना उसका दायित्व है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में यह सन्तुलन सफलतापूर्वक स्थापित हुआ है। लेखक ने एक स्थान पर स्पष्ट भी किया है कि, "···कादम्बरी में प्रेम के जिन शारीरिक विकारों-अनुभावों का, हावों का—अयत्नज अलंकारों का प्राचुर्य है, उनके स्थान में कथा में मानस-विकारों का लज्जा, अवहित्था, जड़िमा का—अधिक प्राचुर्य है। यह बात भी मुझे खटकने वाली लगी···।" अतः लेखक की यह धारणा संगत जान पड़ती है कि कथा का जिस ढग से आरम्भ हुआ है, उसकी स्वाभाविक परिणति गूढ और अदृप्त प्रेम में ही हो सकती है। यह लेखक का स्वस्थ दृष्टिकोण स्पष्ट करता है। बाण के सन्दर्भ में प्रेम आत्मोन्नति का प्रतीक बन जाता है और उसका आत्मविसर्जन कहीं खटकने वाला प्रतीत नहीं होता।

इस उपन्यास में मुख्य कथा-सूत्र एक अपहृता नारी को मुक्त कराकर उसके पिता को पुनः सौंपना है। इसका संपादन वाण तथा निपुणिका के माध्यम से हुआ है, किन्तु इस कथा के माध्यम से देश-काल का व्यापक चित्र इस उपन्यास मे चित्रित हुआ है। नारी-समस्या की गहराई में पहुँचने का प्रयत्न लेखक ने बड़ी कुशलता से किया है और इस प्रकार उपन्यास आधुनिक जीवन-सन्दर्भों से भी सम्बद्ध हो जाता है। निपुणिका के माध्यम से विधवा विवाह की समस्या को उभारा गया है, जो बाण के समय में भी उतनी ही ज्वलन्त थी, जितनी आज। निपुणिका विवाह के एक वर्ष उपरान्त ही विधवा हो जाती है। उसके घर का वातावरण अनुकूल न था और न विधवा विवाह का प्रचलन ही था, जिससे कि वह दुबारा जीवन में निश्चिन्तता की खोज कर सकती। विवश होकर उसे घर से भागना पड़ता है। वह अपनी समस्या को सघन बनाते हुए वाण से कहती है, "मेरी शपथ करके तुम सत्य-सत्य कहो, मेरा कौन-सा ऐसा पाप चरित्र है जिसके कारण मैं विदारुण दुःख की भट्टी में आजीवन जलती रही ? क्या स्त्री होना ही मेरे सारे अनर्थों की जड़ नहीं है ?" यह एक कटु सत्य है, विशेष रूप से यदि एक स्त्री विधवा हो और घर से भागी हो, तो उसे समाज कदाचित् उसका वास्तविक स्थान देने को प्रस्तुत नहीं होता। समाज की यह हठधर्मी या उसकी सीमाएँ ही नारियों की वास्तविक दुर्गति का कारण हैं। न वह उन्हें स्वतन्त्रता दे सकता है न [illegible] ढंग से जीवन जीने का अवसर ही [illegible] ऐसी शोचनीय स्थिति

मे नारी स्वभावतः पतित एवं लांछित समझी जाने लगती है। यह समाज का दुराग्रह ही है। इसे बाण स्पष्ट करता है, "साधारणतः जिन स्त्रियों को चचल और कुल-भ्रष्टा माना जाता है, उनमें एक दैवी शक्ति भी होती है, यह बात लोग भूल जाते हैं; मैं नहीं भूलता। मैं स्त्री-शरीर को देव-मंदिर के समान पवित्र मानता हूँ। उस पर की गई अनुकूल टीकाओं को मैं सहन नहीं कर सकता।" यह निश्चय ही दृष्टिकोण की शुद्धता एवं पवित्रता परआग्रह है और इस बात का स्पष्टीकरण है कि पूर्व-प्रचलित मान्यताओं के आधार पर ही हम नारियों के सम्बन्ध में यदि कोई धारणा निश्चित कर लेंगे, तो वह रूढ़ ही होगी। हमें केवल बाह्य परिस्थितियों पर ही नहीं, आन्तरिक स्थितियों की यथार्थता को भी समझना होगा।

इस उपन्यास में निपुणिका, भट्टिनी, सुचरिता, महामाया आदि सभी विचित्र बिडम्बनाओं की शिकार हैं और उनके दारुण जीवन विभिन्न नारी समस्याओं को प्रकाशित करते हैं। उनका अपहरण तथा शोषण उस समय भी और आज भी एक नितान्त सामान्य बात है। उनकी अपनी गरिमा-मर्यादा कोईस्थान नहीं रखती और न उन्हें महत्त्व ही दिया जाता है। महामाया कहती है, "मैं तुम्हारे देश की लाख-लाख अपमानित, लांछित और अकारण दण्डित बेटियों में से एक हूँ। कौन नही जानता कि इस घृणित व्यवसाय के प्रधान आश्रय सामन्तों और राजाओं के अन्तःपुर हैं ? आप में से किसे नहींमालूम किमहाराजाधिराज की चामरधारणियाँ और करंकवाहिनियाँ इसी प्रकार भगाई हुई और खरीदी हुई कन्याएँ हैं।" महामाया एक अन्य स्थान पर कहती है, "इस उत्तरापथ में लाख-लाख निरीह बहुओं और बेटियों के अपहरण और विक्रय का व्यवसाय क्या नहीं चल रहा है ? अगर देव पुत्र तुवर मिलिंद का हृदय थोड़ा भी संवेदनशील होता, तो आज से बहुत पहले उन्हें मूच्छित होकर गिर पड़ना था। क्या निरीह प्रजा की बेटियाँ उनकी नयन तारा नहीं हुआ करतीं ? क्या राजा और सेनापति की बेटियों का खो जाना ही संसार की दुर्घटनाएँ हैं ?" इस भयानक स्थिति को और भी गहरा करती हुई निपुणिका कहती है। "आर्यावर्त के समाज के मूल में घुन लग गया है, इसे महानाश से कोई नही बचा सकता···क्या स्त्री होना ही मेरे सारे अनर्थों की जड़ नहीं है ? तुम इस छोटे सत्य के साथ राष्ट्र-जीवन के बड़े सत्य को अविरोधी पा रहे हो ? क्या बृहत्तर सत्य के नाम पर मिथ्या का ताण्डव नहीं चल रहा है ? कैसे आशा करते हो आर्य कि देव पुत्र का प्रबल भुजदण्ड इस समाज को नाश के गर्त से बचा लेगा ?" यह जैसे आधुनिक समाज में नारी की स्थिति को ही प्रतिध्वनित करता है। बाणको केवल भट्टिनी या निपुणिका को शरण देने में ही संतोष नहीं होता, क्योंकि एक-दो के उद्धार से यह ज्वलन्त नारी समस्या हल भी नहीं हो सकती। उसका यह सोचना अत्यन्त सार्थक है कि "मैंने एक भट्टिनी का उद्धार किया है सही पर मुझे क्या मालूम है कि इस अन्तःपुर मे और कितनी भट्टिनियाँ

है। और ऐसे अन्त:पुरों की संख्या यहीं तो समाप्त नहीं हो जाती।" यह समस्या की व्यापकता से साक्षात्कार करने का साहस है। लेखक ने स्पष्ट कर दिया है कि इस समाज की व्यवस्था में ही घुन लग गया है और उसे बचाया नहीं जा सकता। फिर विकल्प एक नई व्यवस्था का जन्म है, जिसकी चुनौती स्वीकारनी होगी, लेखक ने इसी ओर संकेत किया है।

इस उपन्यास में मुख्य पात्र तीन ही हैं। बाण स्वयं अपने चरित्र का विश्लेषण करता है और जहाँ अपनी विशेषताएँ प्रकट करता है, वहीं अपने चरित्र की कमियों की ओर भी संकेत करता है। उसकी विशेषताएँ प्रमुख रूप से दूसरे पात्रों के सन्दर्भ में स्पष्ट हुई हैं। वह परोपकार की भावना से पूरित है और दूसरों का दर्द उसे कहीं गहरे तक छूता है। वह अपने प्रेम का उत्सर्ग व्यापक लोक-हित की दृष्टि से करता है। वह प्रत्येक कर्तव्य का कोई-न-कोई मानस उत्स समझता है और अपनी दिशा निर्धारित करता है। वह एक गतिशील पात्र है और सदैव सहज-स्वभाविक रूप में आदर्श आचरण करने के लिए प्रस्तुत रहता है। उसकी मूल प्रवृत्ति घुमक्कड़मस्ती है, लेकिन जब उसके कंधों पर उत्तरदायित्व का बोझ आ जाता है, तो वह उससे पलायन नहीं करता। निपुणिका उसके चरित्र को निरन्तर उदात्त करती चलती है। एक स्थान पर वह आत्म-मंथन करते हुए कहता है, "आज मेरी ही प्राण-रक्षा के लिए उसने (निपुणिका ने) सम्मोहन के प्रतिप्रसव की वलि-वेदी पर अपने को होम दिया है। ऐसा लगता है कि भट्टिनी से उसने अपने पूर्व आकर्षण की बात कह दी है नहीं तो भट्टिनी क्यों कहती कि अपना पैर मत छुड़ाओ, उसे शांति मिल रही होगी। छि: कैसी लज्जा की बात है। मेरा मन कह रहा है कि निपुणिका का मोह अभी कटा नहीं। हाय, मुग्धा ही है यह अब तक। और मैं अपना ही विश्लेषण करके देखता हूँ, तो···क्यों मैं छः वर्षों तक आवारा की तरह घूमता रहा? क्या मेरे इस कर्त्तव्य का कोई मानस-उत्स है? निपुणिका के प्रति कोई मोह मेरे मन में रह गया था? हाय, निपुणिका ने कहा था कि मेरा धूमायित होना बन्द हो गया है, मैं अब धधक उठूंगी, उस समय उसका चित्त कितना उत्क्षिप्त था।" इस प्रकार इन सभी पात्रों का चरित्र विकासशील है और उनको परिकल्पना सोद्देश्य है। इन पात्रों की ऐति-हासिकता वातावरण की रक्षा के कारण ही सुरक्षित है। बाण को छोड़कर अधि-कांश पात्र काल्पनिक है, पर उनके आचार-व्यवहार, वेश-भूषा, हाव-भाव वार्तालाप शैली आदि इस कुशलता से संयोजित है कि वे पूर्णतया ऐतिहासिक रूप से सत्य होने का आभास देते हैं। इन पात्रों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे पूर्णतया मानवीय हैं, सप्राण है। उनकी अपनी स्वय की गति है, जिसे कहीं भी नियन्त्रित करने की कोशिश नहीं की गयी है। इनके अन्तर्द्वन्द्वों को पर्याप्त के साथ प्रस्तुत किया गया है जिससे उनके व्यक्तित्व की

समग्रता कहीं खण्डित नहीं होती। इन प्रमुख पात्रों के अतिरिक्त जिन गौण पात्रों को लिया गया है, उनकी भी अपनी सार्थकता है।

इस उपन्यास की शैली भी रोचक है। लेखक ने स्थान-स्थान पर आवश्यक-अनावश्यक प्रसंगों में भी इस बात की सजगता अपनाई है कि कहीं बाण की 'आत्मकथा' सन्देहप्रद न हो जाए। यह ठीक है कि कुछ वर्णन इस प्रकार के है, जो कथा-प्रवाह मे बाधा उत्पन्न करते है, "स्थान-स्थान पर पण्य-विलासिनियों का नृत्य हो रहा था। मन्द-मन्द भाव से आस्फालमान आलिंग्यक नामक वाद्य से मधुर शिंजनकारी मंजुल वेणु-नाद झनझनाती हुई झल्लरी की ध्वनि से, कलकास्य और कोशी (कांसे का दण्ड और जोड़ी) के मनोरम क्वणन से, साथ-साथ दिए जाने वाले उत्ताल ताल से, निरन्तर ताड़न पाते हुए तन्त्रीपटह की गुंजार से और मृदु-मन्द झंकार के साथ झंकृत अलाबुवीणा की मनोरम ध्वनि से नृत्य जितने ही आकर्षक थे, उतने ही अश्लील·· ।" लेकिन यह स्मरण रखना चाहिए कि जिस युग की कथा प्रस्तुत की गई है, उस युग की भाषा एवं संस्कृति का निर्वाह करना भी स्वाभाविकता के लिए आवश्यक था। 'हर्षचरित' या 'कादम्बरी' की भाषा से इसका बहुत कुछ तादात्म्य है इसके वस्तु-विन्यास के सम्बन्ध में लेखक ने एक स्थान पर लिखा है, "कथा को ध्यान से पढ़ने वाला प्रत्येक सहृदय अनुभव करेगा कि कथा-लेखक जिस समय कथा लिखना शुरू करता है, उस समय उसे समूची घटना ज्ञात नहीं है। कथा बहुत-कुछ आजकल की 'डायरी' शैली पर लिखी गई है। ऐसा जान पड़ता है कि जैसे-जैसे घटनाएँ अग्रसर होती जाती हैं, वैसे-वैसे लेखक उन्हे लिपिबद्ध करता जा रहा है। जहाँ इसके भावावेग की गति तीव्र होती है, वह वहाँ जमकर लिखता है, परन्तु जहाँ दुःख का आवेग बढ़ जाता है, वहाँ उसकी लेखनी शिथिल हो जाती है। अन्तिम उच्छ्वास मे तो जैसे वह अपने ही में डूब रहा है। मुझे यह बात विचित्र लगी। संस्कृत-साहित्य में यह शैली एकदम अपरिचित है। मुझे यह बात संदेहजनक भी मालूम हुई।" इस पद्धति से कथानक की विश्वसनीयता प्रमाणित करने की चेष्टा की गई है। इस तरह के उद्धरण उपन्यास में कई हैं। लेखक का दृष्टिकोण मानवतावादी है, इसलिए कहीं-कहीं सहनशीलता अतिरिक्त रूप से उभर आई है और कहीं-कहीं अत्यन्त शिथिल हो गई है, फिर भी आत्मकथा में जो बिखराव अपेक्षित होता है, वह इस कृति मे है।

इस प्रकार 'बाणभट्ट की आत्मकथा' मे एक ओर सामन्ती मूल्यों की अस्वीकृति है, तो दूसरी ओर सामान्य मानवीय विशिष्टताओं की प्रतिष्ठापना। धार्मिक सहिष्णुता, समानता एवं नारी की गौरवपूर्ण मर्यादा जहाँ स्थापित करने की चेष्टा हुई है, वहीं मानव-सहृदयता एवं संवेदना का विराट अंकन भी। इसमें जहाँ मध्यकालीन सांस्कृतिक परम्पराओं को स्थापित किया गया है, वहीं उनका सामंजस्य आधुनिकता के बोध से भी बिठाया गया है और यही इस की महत्ता है

आंचलिक यथार्थ की अभिनव अभिव्यक्ति : 'मैला आँचल'[1]

आंचलिक उपन्यासों का शोर जितनी तेज़ी से हिन्दी में उठा था, उतनी ही तेज़ी से दब भी गया और आज तो बहुत-से उपन्यासकार अपनी कृतियों को, जो वास्तव में आंचलिक हैं भी, इस संज्ञा से विभूषित करने में हिचकते हैं। इसके कारणों को खोजने से पहले आंचलिक उपन्यासों के स्वरूप पर विचार करना अपेक्षित होगा। पहले, विशेष रूप से प्रेमचन्द के समय में उपन्यासों के कथानक के लिए विशाल चित्रफलक चुना जाता था और जहाँ तक सम्भव हो सके, समग्र भारतीय जीवन को समेटने की चेष्टा की जाती थी। प्रेमचन्द के पश्चात् उपन्यासो की गति प्रमुख रूप से व्यक्ति-केन्द्रित या आत्म-केन्द्रित हो गई। यह नहीं कि इन उपन्यासों में सामाजिक संचेतना प्राप्त नहीं होती, किन्तु वे समाज के सन्दर्भ मे नहीं, व्यक्ति के सन्दर्भ में मूल्यांकित की जाने लगीं। यही कारण है कि इस काल मे मुख्यतः व्यक्ति-चरित्र उभर कर सामने आए।

स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद स्थिति सर्वथा परिवर्तित हो गई। भारत एक देश होते हुए भी जीवन के छोटे-छोटे खण्डों में विभाजित हो गया। विभाजन की विषमयी प्रतिक्रिया, सीमा-विवाद, नदी, बिजलीघर जैसी चीज़ों को लेकर राज्यों का स्वयं आपस में विदेशी शत्रुओं की तरह लड़ना, जाति-प्रथा का अजगर की तरह मुँह बाए फिर से उपस्थित होना और वर्ग-सम्प्रदाय तथा धार्मिक असहिष्णुता का बढ़ना कुछ इस तरह से हुआ कि सारा वातावरण विषाक्त हो गया और एक नयी संक्रान्ति का जन्म हुआ। इसी नयी संक्रान्ति ने ही वस्तुतः आंचलिक उपन्यासों को जन्म दिया। जब उपन्यासकार किसी अंचल, गाँव, कस्बे या मुहल्ले को परिवेश बनाकर वहाँ के लोगों के आचार-व्यवहार, जीवन पद्धति, संस्कृति, लोक-भाषा, धर्म एवं दृष्टिकोण का सूक्ष्म वर्णन करता है, तो वह आंचलिक उपन्यास ही है। इन उपन्यासों में किसी अंचल का चित्रण होने के बावजूद व्यापक सन्दर्भों को समेटने का प्रयत्न होता है, ताकि वे सीमित परिवेश मे ही

---

१. फणीश्वरनाथ रेणु : मैला आंचल, (१९५४), राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-६

बचे न रह सकें। जब कोई उपन्यास (आंचलिक) ऐसा नहीं कर पाता, तो वह अपने उद्देश्य में निश्चय ही असफल रहता है। कुछ उपन्यासों में लोकभाषा का इतना रूढ़ उपयोग किया गया कि वे संकीर्णता के दायरे से निकल ही नहीं पाये और आंचलिक उपन्यासों का अर्थ गलत समझा जाने लगा। इसी भ्रान्ति के शिकार अनेक आंचलिक उपन्यासकारों ने अपनी कृतियों पर यह 'लेबल' लगाना इसलिए उचित नहीं समझा कि कहीं उनके उपन्यास विराटता के बोध से वंचित न हो जाएँ। वस्तुतः यह एक बड़ा ही हास्यास्पद तर्क है। कोई उपन्यास आंचलिक है या नहीं, इससे उसके व्यापक होने का कोई सम्बन्ध नहीं है। विराटता का बोध समस्याओं को उठाने और उनके निर्वाह के ढंग पर निर्भर है।

इस दृष्टि से फणीश्वरनाथ 'रेणु' कृत 'मैला आंचल' (१९५४) इसलिए एक विशिष्ट कृति है क्योंकि आंचलिक होते हुए भी उसमें स्वातन्त्र्योत्तर भारत के ग्रामों में होने वाले परिवर्तन के सूत्रों का व्यापक धरातल पर अत्यन्त सूक्ष्मता से अंकन हुआ है। यद्यपि लेखक के अनुसार इसमें पूर्णिया जिले के एक पिछड़े हुए गाँव मेरीगंज की जिन्दगी का चित्रण हुआ है और इसमें फूल भी हैं, शूल भी हैं। धूल भी है, गुलाल भी है, कीचड़ भी है, चंदन भी। सुन्दरता है, कुरूपता भी—लेखक किसी से भी दामन बचाकर निकल नहीं पाया है। लेकिन यह मेरीगंज सिर्फ पूर्णिया का नहीं है, वह हरियाणा में भी हो सकता है, महाराष्ट्र में भी। उत्तर प्रदेश में भी हो सकता है और तमिलनाडु में भी। यह लेखक की वर्णन शैली की सशक्तता ही है कि मेरीगंज पूरे भारत के गाँवों का प्रतीक बन जाता है। जमींदारों का शोषण, आर्थिक वैषम्य, पुराने-नए मूल्यों की टकराहट और असमानता, जमींदारी उन्मूलन तथा भूमि की समस्या, राजनीति, धर्म तथा समाज सबके निर्माण और विध्वंस की टकराहट इस उपन्यास में मेरीगंज के माध्यम से इतने विशाल चित्रफलक पर अभिव्यक्त हुए हैं कि वह एककाल विशेष का सजीव एवं प्रभावशाली चित्र उपस्थित करने में सफल हो जाता है।

'मैला आंचल' की एक विशिष्टता यह भी है कि इसमें गाँव जीवन को लेकर केवल ग्रामीण समस्याओं में ही लेखक नहीं उलझ गया है। उसने गाँव की अन्तरात्मा को भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। प्रेमचन्द के उपन्यासों की एक बहुत बड़ी सीमा यह थी कि उन्होंने व्यक्तियों की ओर उतना ध्यान नहीं दिया, जितना समस्याओं की ओर। रेणु ने समस्याओं के साथ-साथ व्यक्ति का भी अद्भुत समन्वय करने की चेष्टा की है और यही कारण है कि इस उपन्यास में स्थूलता नहीं, सूक्ष्मता की अभिव्यक्ति कलात्मक ढंग से हुई है, जो इसे प्रेमचन्द के गाँव चित्रण से अलग करती है। डा० प्रशान्त ममता को एक पत्र में लिखता है, "तुम जो भाषा बोलती हो, उसे ये नहीं समझ सकते। तुम इनकी भाषा नहीं समझ सकती। तुम जो खाती हो ये नहीं खा सकते। तुम जो पहनती हो ये नहीं

पहन सकते, तुम जैसे सोती हो, बैठती हो, हँसती हो, बोलती हो, ये वैसा कुछ नहीं कर सकते। फिर तुम उन्हें आदमी कैसे कह सकती हो! ···वह आदमी का डाक्टर है, जानवर का नहीं —भूख और बेबसी से···तिल-तिलकर, घुल-घुलकर मरने के लिए उन्हें जिलाना बहुत बड़ी क्रूरता होगी।···यहाँ इन्सान है कहाँ? अभी पहला काम है जानवर को इन्सान बनाना। यह प्रकारान्तर से रेणु के दृष्टिकोण को भी स्पष्ट करता है। ग्रामीण पात्रों को इतनी मानवीयता, सहृदयता तथा काव्यमयता के साथ प्रेमचन्द के बाद पहली बार नए सन्दर्भों में प्रस्तुत किया गया है, जो आधुनिकता से भी पूरित है।

इस उपन्यास में मानव की कुत्सित प्रवृत्तियों का चित्रण भी उतनी ही तटस्थता से किया गया है, जितनी तटस्थता से उसके सौन्दर्य पक्ष का उद्घाटन। नेत्रहीन महन्त सेवादास लक्ष्मी के लिए लार टपकाता रहता है और लरसिंघ भी उससे पीछे नहीं रहता। लक्ष्मी के पीछे नंगा बाबा भी पड़ा है और रामदास की इच्छा उसे दासी बना लेने की है। लक्ष्मी के सन्दर्भ में असफल होने पर वह जात-पात की उपेक्षा कर रमपियरिया को लाकर घर में बिठा देता है। रमपियरिया की माँ सात बेटों के बाप छीत्तन में फसी है। मंगलदेवी भी गाँव में आकर्षण की केन्द्र है। उनसे मिलने के लिए नित्य नए लोग आते रहते हैं-··कालेज के विद्यार्थी, एम० एल० ए०, साहित्य गोष्ठी के मन्त्री जी, चर्खा संघ के कार्यकर्ता तथा नई हिन्दी दैनिकों के सहायक सम्पादक भी। टुनटुन जी इसी मंगला के फेर में फरेब करते है। कालीचरण भी उसके प्रेमपाश में बँध जाता है। सदाब्रिज फुलिया के पीछे पागल है। फुलिया उससे विवाह करने के बाद भी पैटमान जी के साथ भाग जाती है और होली की रात सहदेव मिसर से रास रचाती है। और खुद खलासी भी एक पतुरिया से मुहब्बत करने लगता है। फुलिया की माँ भी कम नहीं है। रमजुदास की स्त्री उसे 'सिघवा की रखेली' कहती है। तब फुलिया भी रमजुदास की स्त्री की पोल खोलते हुए बताती है कि वह अपने खास भतीजा के साथ भाग गयी थी और गुअरटोली के कलरू के साथ रात भर 'रासलीला' रचाती रहती है। नोखे की स्त्री रामलगसिंह के बेटे से फँसी हुई है और उचित-दास की बेटी कोयरटोली के सटबन महतो से। तहसीलदार हरगौरी सिंह भी किसी से पीछे नहीं है। वह अपनी खास मौसेरी बहन से रासलीला रचाता है और बालदेव जी कोठारिन से लटपटा जाते हैं। सकलदीप किसी 'लैला' के साथ भाग जाता है और लरसिंह सोनमतिया कहारिन की रधिया को उड़ा ले जाता है। वह उसे बाद में इसलिए छोड़ देता है क्योंकि 'नौटंकी कम्पनी' के मालिक की ही बात रहती तो वह सह ले सकता था, पर हारमोनियम और नगाड़ा वाले भी रधिया को कभी फुरसत नहीं देते।" जोतखी जो कालीचरण को चुनौती देते हैं कि वह अपनी माँ से पूछकर बताए कि वह किसका बेटा है कालीचरण

भी प्रत्युत्तर देता कि वह अपनी पत्नी से पूछे कि उसके पेट में किसका बेटा है। कुमार जी डफ साहब की बेटी से फँसे हैं और प्रशान्त लावारिस संतान है।

इस प्रकार के अन्य अनेक प्रसंग भी उपन्यास में आए हैं, जिनसे जीवन के दोनों पक्षों का विशद उद्‌घाटन हुआ है। लेखक ने अनैतिकता के इतने व्यापक चित्र देकर परानैतिक मूल्यों की स्थापना पर बल दिया है। यह एक प्रकार से पुरानी और नयी सांस्कृतिक परम्पराओं की टकराहट भी है। इस अभिव्यक्ति में शुभ बात यह है कि लेखक ने कोई निराशावादी दृष्टिकोण नहीं अपनाया है और न इस गलनशीलता के माध्यम से घृणा या जुगुप्सा का वह स्वरूप कहीं उपस्थित किया है, जो मात्र आवेश या विस्मय उत्पन्न करके ही सीमित नहीं रह जाता, वरन् परिवर्तन की मांग की भूमिका स्वयमेव उत्पन्न करता है। लेखक ने इस सम्बन्ध में कोई आग्रह या दुराग्रह नहीं प्रकट किया है, केवल आस्था एवं संकल्प का आह्वान किया है। लेखक ने एक स्थान पर कहा है, "साम्राज्य-लोभी शासकों की संगीनों के साये में वैज्ञानिकों के दल खोज कर रहे हैं, प्रयोग कर रहे हैं··· मारात्मक, विध्वंसक और सर्वनाशा शक्तियों के सम्मिश्रण से एक ऐसे 'बम' की रचना हो रही है, जो सारी पृथ्वी को हवा के रूप में परिणत कर देगा···एटम 'ब्रेक' कर रहा है।···मकड़ी के जाल की तरह।···चारों ओर एक महा अन्धकार ! सब बाष्प ! प्रकृति पुरुष···अण्ड-पिण्ड। मिट्टी और मनुष्य के शुभचिंतकों की एक छोटी-सी टोली अंधेरे में टटोल रही है। अंधेरे में वे आपस में टकराते हैं। ···वेदांत···भौतिक सापेक्षवाद···मानवतावाद ! हिंसा से जर्जर प्रकृति रो रही है। व्याघ्र के नीर से ज़ख्मी हिरण-शावक-सी मानवता को पनाह कहाँ मिले ? यह अँधेरा नहीं रहेगा। मानवता के पुजारियों की सम्मिलित वाणी गूँजती है, पवित्र वाणी। फिर कैसा भय ? विधाता की सृष्टि में मानव ही सबसे बढ़कर शक्तिशाली है।" यही कारण है कि प्रशान्त कहता है,"मैं फिर काम शुरू करूँगा। यहीं इसी गाँव में। मैं प्यार की खेती करना चाहता हूं। आँसू से भीगी हुई धरती पर प्यार के पौधे लहलहायेंगे। मैं साधना करूँगा। ग्रामवासिनी भारत माता के मैले आँचल तले। कम-से-कम एक ही गाँव के कुछ प्राणियों के मुरझाये ओठों पर मुस्कराहट लौटा सकूँ, उनके हृदय में आशा और विश्वास को प्रतिष्ठित कर सकूँ···" यह लेखक के स्वस्थ दृष्टिकोण को स्पष्ट करता है, जो ऊपर से आरोपित नहीं है। प्रशान्त के माध्यम से उसने कर्म पर बल दिया है और यह बताने का प्रयत्न किया है कि कोई व्यवस्था निष्क्रियता से नहीं, सक्रियता से ही परिवर्तित हो सकती है। इसके साथ ही लेखक का यह भी उद्देश्य रहा है कि शोषण का अन्त कोई शक्ति नहीं करेगी, कोई कानून या सरकार नहीं। उसके लिए शोषित लोगों को स्वयं तैयार होना होगा और अपने अधिकारों की रक्षा करनी होगी। यदि वे स्वयं अपने को नहीं पहचानेंगे तथा अपना शोषण होने देंगे, तो इस स्थिति

से बचने का कोई विकल्प ही नहीं है। इसके लिए उसने किसी क्रान्ति की बात नहीं की है, केवल जागरण का सन्देश दिया है।

इस उपन्यास में मेरीगंज गाँव धीरे-धीरे जागने की प्रक्रिया में ही गतिशील होता है। बनते सम्बन्ध टूट रहे हैं, टूटते सम्बन्ध नए रूप धारण कर रहे हैं। गाँव की जिन्दगी में जहाँ नयापन आ रहा है, वहीं एक विक्षुब्ध-विषाक्त वातावरण भी निर्मित हो रहा है। जहाँ पहले संस्कृति थी, मनुष्य का मनुष्य पर विश्वास था, वहीं आज मूल्यहीनता, विश्वास की कमी तथा ईर्ष्या-द्वेष हर व्यक्ति में घर कर रहा है। पहले जीवन का एक नैतिक धरातल था, अब कोई नैतिक मानदण्ड नहीं रह गया है। जहाँ पहले लोग चुपचाप अन्याय सहन करते जाते थे, वहाँ अब लोग जागरूक होते जा रहे हैं और कोई अन्याय सहन करने को तैयार नहीं है। होरी आज के गाँव में है, पर उसे शोषण से बचाने वाले अनेक गोबर आज के गाँवों में सक्रिय हो गए है, 'मैला आँचल' में यही दर्शाया गया है। इसकी एक अन्य विशेषता यह है कि यह सामाजिक चिन्तन-धारा से तो जुड़ा ही हुआ है, यह वर्तमान राजनीतिक विचारधाराओं से भी असमपृक्त नहीं है। राजनीतिक उपन्यासों की सबसे बड़ी त्रासदी, विशेषतः हिन्दी या अन्य भारतीय भाषाओं मे यह है कि लेखक अपने को तटस्थ नहीं रख पाता और किसी-न-किसी मतवाद का शिकार बन जाता है और किसी राजनीतिक विचारधारा का पक्षधर। यह प्रवृत्ति लेखक की कला एव दृष्टि पर इतनी हावी हो जाती है कि मानवीयता की बात तो दूर, संवेदनशीलता तक जाती रहती है। जहाँ इससे बचने की कोशिश की जाती है, वहाँ उपन्यास केवल रोचक किस्से बनकर रह गए हैं (जैसे गुरुदत्त के उपन्यास) या अखबार की दिलचस्प रिपोर्टिंग (जैसे यशपाल के उपन्यास) या केवल चटखारे ले लेकर विवरण मात्र दे देना (जैसे भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास)। जब यह भी नहीं होता, तो वह मतवादों की संकीर्ण-तंग गलियों से गुज़रने लगता है (जैसे यशपाल, अमृतराय या राहुल सांकृत्यायन के उपन्यास)।

वस्तुतः हिन्दी में राजनीतिक उपन्यासों की कोई स्वस्थ परम्परा नहीं है और जिन दूसरे उपन्यासों में राजनीति का समावेश हुआ भी है, वहाँ उसका बहुत कलात्मक समन्वय नहीं हो पाया है। रेणु की विशेषता यह रही है कि 'मैला आँचल' में उन्होंने सभी राजनीतिक विचारधाराओं का बड़ा संतुलित चित्रण किया है। न किसी को ऊपर उठाने की कोशिश है, न किसी को सायास नीचे गिराने की। वस्तुतः जिस घुटन भरी जिन्दगी की कशमकश उन्होंने चित्रित की है, उसमें यह राजनीतिक चित्रण इतना घुल-मिल गया है कि वह अलग से देखा ही नहीं जा सकता। रेणु की निर्वैयक्तिकता एवं तटस्थता ने उसे और भी गहरा रंग दिया है। वे कहीं भी मताग्रही नहीं प्रतीत होते। उन्होंने वास्तव में एक व्यापक मानवतावाद की स्थापना करने की चेष्टा की है। कोई भी राजनीतिक विचार-

धारा मनुष्य की अवहेलना करके, मानव-मूल्यों की उपेक्षा करके तथा मानवीयता का तिरस्कार करके न तो जीवित रह सकती है और न मानव मन को स्पर्श ही कर सकती है। रेणु ने 'मैला आँचल' में यही सिद्ध करने की चेष्टा की है और इससे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। आज सामाजिक एवं राजनीतिक विघटन केवल इसीलिए बढ़ रहा है क्योंकि सभी राजनीतिक दल जनता से दूर जा पड़े हैं और अपने-अपने व्यक्तिगत स्वार्थ एवं क्षुद्रता के संकीर्ण दायरों में पनप रहे हैं।

'मैला आँचल' की इन विशेषताओं के बावजूद सबसे बड़ी सीमा पात्रों का निर्वाह है। यह सच है कि इस उपन्यास में रेणु कोई भी ऐसा पात्र नहीं दे सके हैं, जो होरी ('गोदान'), मृणाल ('त्यागपत्र'), शेखर ('शेखर : एक जीवनी'), या परमात्मा बाबू ('सुबह अंधेरे पथ पर') की तरह अपने युग या समाज का जीवन्त प्रतीक बन सके और अविस्मरणीय रूप में हमारे मन पर छाया रहे। बावनदास तथा प्रशान्त में इसकी बड़ी सम्भावनाएँ थीं, लेकिन लेखक समस्याओं एवं परिस्थितियों में इतना उलझकर रह गया है कि इसका उसे अवकाश ही नहीं मिला है। इन पात्रों के माध्यम से वह कथानक के बिखराव को समेटकर एकरसता भी उत्पन्न कर सकता था, पर पता नहीं क्यों उसने यह नहीं किया है। सारा कथानक न्यूज-रील की भाँति इतनी तेजी से घूमता रहता है कि कोई दृश्य अपना स्थायी प्रभाव नहीं छोड़ पाता। इसमें प्रवाह की तीव्रता इसकी विशेषता भी है, सीमा भी। यही बात भाषा के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। लोक-भाषा के परिचय से स्थानीय रंग उभरता है और उपन्यास में अधिक आत्मीयता आती है, पर एक विशेष सीमा के बाद इसका अतिशय प्रयोग खटकने लगता है और कथानक की स्वाभाविक गति बाधित होती है। लेकिन इन सीमाओं के बावजूद 'मैला आँचल' ने हिन्दी उपन्यासों को एक नया मोड़ दिया है, इसे अस्वीकारा नहीं जा सकता और यही इसकी उपलब्धि भी है।

इतिहास का पर्यवेक्षण : 'भूले-बिसरे चित्र'[1]

भगवती बाबू हिंदी के उन उपन्यास-लेखकों में हैं जिनमें व्यक्ति और समाज के परस्पर संघर्ष की भावना निरंतर विद्यमान रहती है। प्रेमचन्द और भगवती बाबू की जीवनियों का अध्ययन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि इन दोनों कलाकारों को जीवन के साथ घोर संघर्ष करना पड़ा था। उन्होंने अपनी कुरूपता के साथ-साथ समाज की कुरूपता भी देखी। जीवित रहने की प्रेरणा दोनों में बनी रही। दोनों ने बहुत-से सपने देखे और मिटाये भी। अभावग्रस्त जीवन व्यतीत करते हुए ही दोनों कलाकारों ने साहित्य मे प्रवेश किया। किंतु प्रेमचन्द तो अपने व्यक्तिगत जीवन की कटुता को अपने समाज-दर्शन से पृथक रखने में समर्थ हो सके थे। भगवती बाबू ऐसा नहीं कर सके। उन्होंने अपने सपने मिटाये; अपनी आँखों मे मस्ती का पागलपन मिटाया और अनास्था से भरा व्यंग्य उनकी आँखों से झलकने लगा। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि उनकी दृष्टि मे व्यंग्य ही जीवन का एकमात्र सत्य है। काल और परिस्थिति के झोंकों में लगातार डूबते-उतराते रहने के कारण उन्हें कार्यकारण, क्रिया-प्रतिक्रिया आदि तत्वों का निरीक्षण करने की आदत पड़ गयी है। भगवती बाबू में जीवन-शक्ति का अभाव तो नहीं है, किंतु जीवन के संघर्ष ने उनमें संशय, अविश्वास और आत्म-तुष्टि की भावना उत्पन्न कर दी है। नियंता के आश्रित रहने के कारण वे अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं मानते। उनकी मान्यता है : जो मैं करता हूँ, वह करने को विवश हूँ, बाध्य हूँ। जो होना है, वह हो चुका है। परिस्थितियों के संघर्ष के बीच नियता ने ही उन्हे बचाया, ऐसा उनका विश्वास है। प्रेमचन्द ने अपना निजी रूप इतना दबा दिया था कि वह उनके साहित्य में शायद ही कहीं झाँकता दिखायी देता हो। भगवती बाबू दूसरों के सत्य के साथ-साथ अपना सत्य कभी नहीं भूले। वे दोनो मे समन्वय के पक्षपाती भले ही हों, किंतु प्रेमचंद की भाँति दूसरों का सत्य उनके सामने कभी प्रमुख नहीं रहा।

जीवन संबंधी परिस्थितियों के प्रभाव के अतिरिक्त यह भी स्मरण रखना चाहिए कि भगवती बाबू का साहित्यिक जीवन कवि के रूप में प्रारम्भ हुआ। वह

---

१ भ वर्मा 'भूले बिसरे चित्र' १६५६ प्रकाशन दिल्ली ६

युग छायावाद का युग था; संक्रमण-काल था; वस्तुवादी कविता के प्रति विद्रोह था। जयशंकर 'प्रसाद', पंत और निराला के नाम हिंदी में उजागर हो रहे थे। बिहार में जनार्दन झा 'द्विज' और मोहनलाल महतो 'वियोगी', मध्यप्रदेश मे जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिंद' और कानपुर में बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और भगवती-चरण वर्मा ख्याति प्राप्त कर रहे थे। १९३० में भगवती बाबू ने सोचा कि कवि की अपेक्षा उपन्यासकार के रूप में अधिक सफलता मिल सकेगी। वैसे १९३० से पहले भी उन्होंने कुछ निबंध, कहानी आदि की रचना की थी, किन्तु उस समय कविता ही उनके साहित्यिक जीवन में प्रमुख स्थान ग्रहण किये हुए थी। किन्तु कविता से आर्थिक संकट या आजीविका को समस्या सुलझते न देख विवश होकर उन्हें उपन्यास-कहानी क्षेत्र की ओर आना पडा। पैसा तो उन्हे प्रारम्भ मे अधिक न मिला किन्तु उनमें आत्म-विश्वास अवश्य बढ़ा। धीरे-धीरे वे कविता के प्रति उदासीन होते गये। उन्होंने परिस्थितिवश कविता छोड़ने की बात स्वय स्वीकार की है। इसका उन्हें खेद भी है, क्योंकि प्रगतिवादी, प्रयोगवादी कविताएँ तो, उन्हीं के शब्दों मे, दिन में दस-पाँच लिखी जा सकती हैं। उनका यह भी विचार है कि भावना के व्यक्तिकरण में गद्य में उपन्यास और कहानी सबसे अधिक सूक्ष्म सिद्ध हुए हैं, अतः उनका प्रचार भी अधिक है। वर्तमान युग को वे कविता का युग मानते भी नहीं हैं।

वास्तव में सामाजिक चेतना और जीवनगत सघर्ष एवं विद्रोह ने भगवती बाबू को उपन्यास-क्षेत्रकी ओर खीचा और इसके लिए उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध से चली आ रही सुदीर्घ और प्रेमचंद द्वारा पुष्ट परम्परा उन्हें प्राप्त थी। उनके 'पतन' (१९२८). 'चित्रलेखा', (१९३३), 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' (१९४०), 'तीन वर्ष' (१९४६), 'आखिरी दाँव' (१९५०), 'अपने खिलौने' (१९५७), 'भूले-बिसरे चित्र' (१९५९), 'वह फिर नहीं आयी', (१९६०), 'सामर्थ्य और सीमा' (१९६२), 'थके पाँव' (१९६३) और 'रेखा' (१९६४), 'सीधी-सच्ची बातें' (१९६८), नामक उपन्यासों में, 'चित्रलेखा' को छोड़कर, सामाजिक और राज-नीतिक चेतना उभरी है। 'चित्रलेखा' में इतिहास नाम मात्र का है। अन्यथा इसकी मूल समस्या नितान्त आधुनिक और सामाजिक है। ऐतिहासिक उपन्यास की दृष्टि से ही नहीं, मूल समस्या को भली-भाँति उभारने की दृष्टि से भी 'चित्र-लेखा' एक सफल औपन्यासिक कृति नहीं कही जा सकती।

'भूले-बिसरे चित्र' की रचना के पीछे भगवती बाबू को ३०-३५ वर्षों के कड़वे-मीठे जीवन के अनुभव और लगभग इतना ही लंबा अभ्यास उपन्यास लिखने का प्राप्त था। जिस प्रकार उनके अन्य उपन्यासों में उनके व्यक्तिवादी दृष्टिकोण द्वारा सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक खोखलेपन और मानव-मन की दुर्बलताओं पर प्रकाश पड़ा है, उसी प्रकार 'भूले-बिसरे चित्र' में एक सामंत-

वर्गीय परिवार की चार पीढ़ियों के माध्यम से भगवती बाबू का व्यक्ति और समाज के प्रति वही दृष्टिकोण प्रकट हुआ है।

'भूले-बिसरे चित्र' में एक पीढ़ी शिवलाल, रावेलाल, गजराजसिंह, बरजोरसिंह आदि की है। दूसरी पीढ़ी ज्वालाप्रसाद और जैदेई की है। तीसरी पीढ़ी गंगाप्रसाद सतवंती आदि की और चौथी पीढ़ी ज्ञान की है। लेखक ने जमाने की उत्तरोत्तर बदलती हुई चित्तवृत्ति और दृष्टिकोण को चित्रित करना चाहा है। शिवलाल तो एकदम पुरानी सामंती परम्पराओं में पालित-पोषित व्यक्ति है। उसका आचरण सामन्त वर्ग के पतन का प्रतीक है। समाज में खुशामद-दरामद और रुपया-पैसा उसके लिए सब कुछ है। अपने इन्हीं 'गुणों' के कारण वह अपने पुत्र ज्वालाप्रसाद को कानपुर की घाटमपुर तहसील का नायब नियुक्त करा लेता है। ज्वालाप्रसाद की कथा से उपन्यास में आधुनिक मध्यम वर्ग की कथा का उल्लेख होना प्रारम्भ हो जाता है। परिवार पुरानी दुनिय को छोड़कर नयी दुनिया बसाने की चेष्टा करता है—मान्यताओं, आचरण, रुचि, दृष्टिकोण आदि सभी दृष्टियों से। एक ओर तो सामन्त वर्ग की मान्यताएँ भू-लुंठित हो चुकी थी, दूसरी ओर नवजात मध्यम वर्ग के सामने नवीन जीवन-मूल्य अभी स्थापित न हो पाये थे। वे स्थापित होने के क्रम में अवश्य थे। ऐसी परिस्थिति में अनिश्चित और डाँवाडोल मानसिक स्थिति के अभिशाप से पीड़ित होना स्वाभाविक था। आलोच्य उपन्यास में प्रारम्भ से ही यह सब दृष्टिगोचर होने लगता है। ज्वालाप्रसाद का पुत्र गंगाप्रसाद, जो डिप्टी कलक्टर हो जाता है, आभूषण-विक्रेता राधाकिशन की पत्नी सन्तो से प्रेम करता है। प्रेम विलासिता पर आधारित है। राजा साहब विजयपुर की दावत में वह गंगाप्रसाद की जूठी शराब भी पीने का प्रयत्न करती है। ऐसे आचरणों से बड़े-बड़े परिवार अपनी ध्वंस-लीला देख चुके है। समाज में ऐसे लोग भरे पड़े हैं जिनके इशारों पर स्त्रियाँ पतन के गर्त में गिरती हैं, परिवार छिन्न-भिन्न होते हैं। ऐसे लोगों की दृष्टि में मानवता का कोई महत्त्व नहीं होता। वे इन्सान को इन्सान न समझकर अपने स्वार्थों की पूर्ति का साधन मात्र समझते है। लेखक का दृष्टिकोण पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत जीवन का खोखलापन प्रदर्शित करना है जहाँ हरएक चीज रुपये से तोली जाती है, जहाँ रुपया ही सब कुछ है, जहाँ विवाहिता पत्नियों को भी लोग धनोपार्जन और समाज मे आगे बढ़ने का साधन बना लेते हैं। राधाकिशन की पत्नी सन्तो गंगाप्रसाद के साथ ही नहीं, वाट्स के साथ भी चोंचलेबाजी करती है और राधाकिशन को 'रायबहादुर' की उपाधि मिल जाती है। सन्तो का 'उपयोग' सार्थक सिद्ध हुआ। सन्तो के रूप और उसकी जवानी के बदले राधाकिशन को समाज में मान-मर्यादा प्राप्त हुई और स्वयं सन्तो 'रानी सतवंत कुँवर' बन गयी। लेकिन अपने पति को वह 'जनाना' और 'जनखा' समझती है। सौदे में मुनाफ़ा न हो तो सौदा ही क्या!

भगवती बाबू पूँजीवादी समाज की इसी 'नैतिक मुनाफ़ाखोरी' की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं। जीवन इसी रफ़्तार से चलता रहता है। सारा परिवार परिस्थितियों के चक्र में पड़कर जीवन की सम-विषम पगडंडी पर आगे बढ़ता जाता है और अंत में ज्ञान राष्ट्रीयता का तत्व उपस्थित करता है। नवल और विद्या भी राष्ट्रीयता की भावना से प्रेरित होकर जेल-यात्रा करते हैं। ज़माना बदल रहा था; अब वह और तेज़ी से बदलने लगा। पुरानी परम्परा में पालित-पोषित ज्वालाप्रसाद की समझ में यह सब कुछ नहीं आता। क्या था, क्या हो गया! उसी के शब्दों में—'न जाने कितने नये लोग आये, न जाने कितने पुराने लोग चले गये।...ये तरह-तरह के चित्र आप ही आप बनते हैं और मिट जाते है, यह क्यों? और दो बुड्ढे! जिन्होंने युग देखा था, ज़िंदगी के अनेक उतार-चढ़ाव देखे थे जिन्होंने, जिनके पास अनुभवों का भंडार था, विवश थे, निरुत्तर थे। और दूर हज़ारों, लाखों, करोड़ों आदमी जीवन और जाति से प्रेरित, नवीन उमंग और उल्लास लिये हुए एक नवीन दुनिया की रचना के लिए चले जा रहे थे।" यहीं इस उपन्यास का अंत हो जाता है। इन प्रमुख पात्रों और घटनाओं के अतिरिक्त उपन्यास में प्रसंगानुकूल दिल्ली-दरबार, मीर जाफ़र अली, स्वामी जटिलानंद, अल्लामा वहशी आदि के माध्यम द्वारा हिन्दू-मुस्लिम सांप्रदायिकता, राधेलाल की बहुओं, जैदेई, राधा, रुक्मा, संतो, विद्या आदि के माध्यम द्वारा नारी के व्यक्तित्व आदि का भी उल्लेख हुआ है।

'भूले-बिसरे चित्र' की यह कथा उस युग की है जब जीवन परम्परागत मूल्य निस्सार और निष्प्राण हो गये थे, देश परतंत्रता की बेड़ियों में जकड़ा हुआ था, ब्रिटिश सरकार ने अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए ज़मींदारों, राजा-महाराजाओं का सामन्त वर्ग बनाये रखा था, नवशिक्षित मध्यम वर्ग का जन्म हो चुका था और वह जीर्ण-शीर्ण परम्परा का ध्वंस और नवीन परम्पराओं के निर्माणार्थ अपने जीवन की बलि चढ़ाने तक के लिए प्रस्तुत था, इसी मध्यम वर्ग के नेतृत्व में देश स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए प्राणपण से संलग्न था और राष्ट्रीयता की अदम्य आकांक्षाओं से उद्वेलित हो रहा था। इसी समय राष्ट्रपिता गांधी के विविध आन्दोलनों के फलस्वरूप नारी-जगत में चेतना उत्पन्न हुई थी और अछूतों को प्रकाश की क्षीण रेखा दिखायी पड़ने लगी थी। उन सब घटनाओं का उल्लेख करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। आधुनिक इतिहास का सामान्य विद्यार्थी भी उन्हें जानता है। किन्तु इतना निश्चित है कि देश अनेक बाधाओं, कठिनाइयों और शंकाओं के टेढ़े-मेढ़े रास्ते से गुज़र रहा था और अनेक क्रिया-प्रतिक्रियाओं के घात-प्रतिघात से देश का एक नया रूप उभरता आ रहा था। यह ठीक है कि इस समय भी ढोंगियों की कमी नहीं थी, तो भी महात्मा गांधी के नेतृत्व में और स्वतंत्रता की अदम्य आकांक्षा ने देश में एक नवीन आदर्शोन्मुख वातावरण उत्पन्न कर दिया था, जीवन को नये साँचे में

ढाले जाने का प्रयत्न होने लगा था और अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए देश बड़े से बड़ा बलिदान करने के लिए प्रस्तुत था। भारतेंदु हरिश्चन्द, स्वामी दयानन्द, तिलक, एनी बेसेंट, मदनमोहन मालवीय, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, स्वामी विवेकानद, स्वामी रामतीर्थ, योगी अरविन्द, रमण महर्षि आदि महापुरुषों की एक परम्परा थी जिसने उस भारत के निर्माण में योग प्रदान किया जिसे 'भूले-बिसरे चित्र' मे स्थान दिया गया है। अपने देश मे ही नहीं, वरन् प्रथम महायुद्ध के बाद तो एशिया के विभिन्न देशों, यूरोप और रूस में नवीन क्रांतियाँ जन्म ले रही थी या ले चुकी थीं। देश का थोड़ा-बहुत औद्योगीकरण भी हो रहा था। तेजी से बदलते हुए जीवन को लंगर प्रदान करने की दृष्टि से हमारे महापुरुषों ने देश की सर्वश्रेष्ठ परम्पराओं के अनुसार धर्म, त्याग, साधना आध्यात्मिकता सरल-साधारण जीवन, उच्च आदर्श, आत्म-सम्मान की भावना आदि की ओर ध्यान आकृष्ट किया। 'भूले-बिसरे चित्र' वाले युग में धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और साहित्यिक चेतना नित नूतन रूप धारण कर भारतीय वसुंधरा को जीवन प्रदान कर रही थी। उस समय मध्ययुगीन प्रवृत्तियों पर प्रहार पर प्रहार हुए। अपने से ही संघर्ष लेने वाले तर्कशील मध्यमवर्गीय व्यक्ति समन्वयात्मक बुद्धि ग्रहण कर रहे थे। पश्चिम से प्रभावित होते हुए भी देश में पूर्व और पश्चिम का संघर्ष छिड़ा हुआ था। भारत अपना आध्यात्मिक और सांस्कृतिक संदेश हिंसा से पूर्ण और रक्त से लथपथ संसार को देना चाहता था। किन्तु राजनीतिक एव आर्थिक दासता उसके मार्ग में बड़ी भारी बाधाएँ थीं। राजनीतिक स्वतंत्रता-संग्राम उस समय यही आध्यात्मिक और सांस्कृतिक संदेश देने का साधन था, अपने में साध्य नहीं था। फलतः राष्ट्रीयता ने रहस्यवादी भावनाओं से संवलित एक धर्म का रूप ग्रहण कर लिया। कृष्ण वर्मा, भूपेन्द्रनाथ दत्त, अरविन्द घोष, विनायक सावरकर आदि ने राष्ट्रीयता का यही रूप ग्रहण किया। उस राष्ट्रीयता मे अध्यात्मिकता का अंश निश्चित रूप से विद्यमान था। देश की भौगोलिक इकाई को दिव्य रूप प्रदान किया जाने लगा। प्रथम महायुद्ध के बाद भारतीय राष्ट्रीयता ने जो आध्यात्मिक रूप ग्रहण किया था। उसका नैतिक आधार भी ढूँढ़ा जाने लगा था। भारतीय राष्ट्रीयता अपने आंतरिक रूप की परीक्षा करने लगी थी। तत्कालीन महापुरुषों ने भारतीय राष्ट्रीयता को समग्र मानव-जाति के संदर्भ मे देखना शुरू किया।

उतना ही नहीं। एक पराधीन और भू-लुंठित देश के योग्य जीवन-दर्शन की स्थापना भी हुए बिना न रही। औपनिषद् मार्ग का अवलम्बन ग्रहण कर ज्ञान-मार्ग और कर्म-मार्ग में समन्वय उपस्थित कर एक विशेष तर्क-शृंखला उत्पन्न की गयी और प्रकृति तक को कर्मशील माना गया और सर्वोपरि गीता के निष्काम कर्म का उपदेश दिया गया जो तत्कालीन भारतीय परिस्थिति के अनुकूल था।

आधुनिक भारत के लगभग सभी महान निर्माताओं ने गीता का आश्रय ग्रहण किया और धार्मिक अन्धविश्वासों और अन्ध-परम्पराओं के मूलोच्छेदन के प्रयास के साथ-साथ सर्वैकता, मानवतावादी आदर्श और वसुधैव कुटुम्बकम् के आधार पर राष्ट्र को जागृति और एकता के सूत्र में गूंथ देने वाला धर्म देश के सामने रखा गया। यह धर्म अन्तःसाधनामूलक था।

'भूले-बिसरे चित्र' वाले युग का यही वास्तविक युगबोध था। निश्चय ही उसमे विकृतियाँ भी थीं; ढोंग और आडम्बर भी था। किन्तु विकृतियों, ढोंग और आडम्बर के स्थान पर जीवन के नव-निर्माण की चेतना भी सर्वत्र व्याप्त थी, यह हमें कभी न भूल जाना चाहिए। 'भूले-बिसरे चित्र' के लेखक ने एक ओर सामंत वर्ग की ढहती दीवारों की ओर और दूसरी ओर मध्यवर्गीय जीवन के खोखलेपन की ओर ही हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। नवल और विद्या बदलते हुए जमाने की ओर संकेत अवश्य करते है, किन्तु लेखक ने उस युग को जिस परिप्रेक्ष में देखा है उससे उस युग का सम्यक् चित्र उभर नहीं पाया। प्रेमचन्द ने १९३६ ई० में चित्र प्रस्तुत किया था। भगवती बाबू ने १९५९ ई० में सिंहावलोकन किया था; पीछे मुड़कर देखा था। उस समय तक पूर्ववर्ती युग की मूल चेतना को हृदयंगम कर उपन्यास की रचना की गयी होती तो उसमें चार चाद लग गये होते। किन्तु संभवतः लेखक अपने व्यक्तिगत जीवन के कटु अनुभवों को अलग नहीं रख सका। ऐसा मालूम होता है कि भगवती बाबू का व्यक्ति हार गया है, टूट गया है, और वे अपने भूले-बिसरे हारे हुए व्यक्ति के रंगीन चश्मे से पिछले सारे युग को देख बैठे हैं। इसीलिए उपन्यास जितना महान होना चाहिए था उतना नही बन पड़ा। उनके व्यक्ति की त्रासदी सारे देश की नहीं बन सकती।

सच तो यह है कि उपन्यास में राजनीति तथा अन्य विषय तो प्रासंगिक रूप मे आये हैं और जितने अश में वे आये है उतने में भी अपनी संपूर्ण चेतना ले कर नही आये। उपन्यास का मूल दृष्टिकोण वही है जो लेखक के इससे पिछले उपन्यासों में दृष्टिगोचर होता है। वही पुराना दृष्टिकोण उनके 'थके पाँव' और 'रेखा' तक में स्पष्टतः अंकित है। हिन्दी में संभवतः भगवती बाबू ही एक ऐसे लेखक हैं जो अपने साहित्यिक जीवन के पिछले लगभग ३६ वर्षों में बदले नही है—गतिहीन रहे हैं। वे इस उपन्यास मे भी अपनी पुरानी मान्यता दुहराते हैं कि—"नियति का विधान एक अजीब ढंग से चल रहा है, और वह इसी तरह इस अजीब ढंग से चलेगा भी। इस दुनिया मे जीवित वह रह सकता है, जो समर्थ है।" 'भूले-बिसरे चित्र' में कई स्थलों पर उन्होंने परिस्थिति का महत्व भी बताया है। सतो के परिवर्तन पर आश्चर्य प्रकट करने पर रिपुदमनसिंह कहता है : "व्यक्ति की आधारभूत प्रवृत्तियाँ विशेष परिस्थितियों में उभरेंगी ही; उभारने के लिए यदि तुम साधन न बने होते तो कोई दूसरा साधन बन गया होता। आदमी कुछ

नहीं करता, जो कुछ कराती हैं, परिस्थितियाँ कराती हैं।" परिस्थिति का चक्र ही संतो को झूठ और फ़रेब की दुविधा से उबरने नहीं देता। रिपुदमनसिंह के इस कथन में : "यह दुनिया शिवप्रतापों से भरी है, जिनके इशारों पर स्त्रियाँ गिरती हैं, जिनके प्रभाव से परिवार टूटते हैं, जिनके कहने से हत्याएँ होती हैं। मैं चाहता हूँ इन शिवप्रतापों को चुन-चुनकर दुनिया से हटा दिया जाय। सुना गंगाप्रसाद, ये शिव-प्रताप मानवता के अभिशाप है, ये मनुष्य की योनि में पिशाच है।···आज की मान्यताएँ बदल गयी है। जिस जगह तुम हो, वहाँ हर चीज़ बिकती है— दीन, ईमान, सत्य, चरित्र! यह पूँजीवाद का युग है, यह बनियों की दुनिया है, सब कुछ बिकता है। यहाँ न हत्या होती है, न बदला लिया जाता है।" स्वयं लेखक के व्यक्तिगत कटु अनुभवों का तीखापन है। वास्तव में भगवती बाबू ने मध्यम वर्ग का एक ही पक्ष देखने की चेष्टा कर अपने को एक सीमित परिधि मे बाँध लिया है। मध्यम वर्ग में उसकी ऐश्वर्य एवं भोग-लिप्सा और विलासिता की प्रवृत्ति ही उन्होंने अधिक पायी। किन्तु क्या यह तत्कालीन जीवन का सच्चा चित्र कहा जा सकता है! लेखक ने उपन्यास का फलक विराट बनाने की चेष्टा अवश्य की है। कई तरह के लोगों, विचारधाराओं और प्रवृतियों को स्थान देकर एक दूसरे पूरे युग को समेट लेने की चेष्टा की है, किन्तु लेखक के अपने व्यक्तित्व की परछाई उस पर इतनी अधिक है कि युग का सारा चित्र धुंधला पड़ गया है।

क्योंकि लेखक को नियंता और परिस्थिति के चक्र में अगाध विश्वास है इसी लिए उपन्यास के अंत में इस प्रकार के कथन पढ़ने को मिलते है : "ज्वलाप्रसाद हाथों पर सिर रखे हुए सोच रहे थे, यह सब क्या होने वाला है? उनकी समझ मे कुछ भी नहीं आ रहा था। अपने चारों ओर वाला वातावरण उन्हें नितान्त अन-जाना लग रहा था। उनके अतीत के चित्र एक के बाद एक उनकी आँखों के आगे आने लगे— धुंधले से, अस्पष्ट से। शिवलाल, गंगाप्रसाद, यमुना; ये सब के सब गये, जैसे इन लोगों का भी कोई अस्तित्व नही था। और एक दिन वह भी चले जायँगे, इसी प्रकार अस्तित्वहीन बना कर। तो फिर यह अस्तित्व···क्या यह एक छलना है, भ्रम है?" भीखू भी कहता है : "···समझ माँ नहीं आवत भइया, ई सब का हुइ रहा है।" भगवती बाबू के शब्दों में, "दो बूढ़े, जिन्होंने युग देखा था, विवश थे; निरुत्तर थे। और दूर हज़ारों, लाखों, करोड़ों आदमी जीवन और गति से प्रेरित, नवीन उमंग और उल्लास लिए हुए एक नवीन दुनिया की रचना करने के लिए चले जा रहे थे।" अफ़सोस यही है कि जब लाखों-करोड़ों आदमी जीवन और गति से प्रेरित होकर एक नयी दुनिया की रचना करने के लिए चले जा रहे थे, और जैसा मैं पहले कह आया हूँ, जिन पचास वर्षों के युग को लेखक ने अपने उपन्यास का विषय बनाया है उसमें लाखों-करोड़ों आदमी निःसन्देह नयी दुनिया की रचना करने के लिए आगे बढ़े चले जा रहे थे, वह एक वास्तविकता थी, तो

लेखक ने उस दुनिया की धड़कन पहचानने की कोशिश क्यों नहीं की। झूठ, फरेब आदि किस दुनिया में नहीं रहे और आगे नही रहेंगे। किन्तु यही सब कुछ तो जीवन नहीं है। लेखक या कलाकार को पूर्ण स्वतन्त्रता है कि वह झूठ, फ़रेब, समाज के खोखलेपन आदि को अपना विषय बनाये, किन्तु तब उसे युग-चित्र प्रस्तुत करने का दावा नहीं करना चाहिए। अधिक से अधिक 'भूले-बिसरे चित्र' को एक युग के उपेक्षा-योग्य पक्ष का उपन्यास कह सकते हैं।

इसका मूल कारण मेरे विचार से वही है जिसका उल्लेख मैं पीछे कर आया हूँ। लेखक न केवल जीवन की कटुता से तिक्त अपने जीवनानुभव ही नहीं छोड पाया, जीवन के जिन रंध्रों से उसने एक बीते युग को देखा है उन रंध्रों से उसे विषैली वायु ही मिली है, वरन् वह उपन्यास में व्यक्ति और समाज के बीच सामंजस्य भी उपस्थित नहीं कर पाया। उसका व्यक्ति एक ओर तो नियंता और परिस्थितियों का शिकार है, दूसरी ओर उसमें किसी सामाजिक व्यवस्था के आगे सिर उठाने की क्षमता भी नहीं। बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि भगवती बाबू गतिहीन ही नहीं, वरन् अपने वास्तविक विचारों को अपने उपन्यासों में ('टेढ़े-मेढे रास्ते' को छोड़कर) प्रतिफलित भी नहीं कर पाते। 'चित्रलेखा' में सब कुछ अच्छा होते हुए भी उन्होंने अंत में उसे चौपट कर दिया है। उसमें उन्होंने मनुष्य को परिस्थिति का दास बता दिया है—यद्यपि बीजगुप्त का चित्रण अपने वास्तविक विचारों के अनुसार किया है। 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में उन्होंने गांधी-इर्विन समझौते के समय का स्वतंत्रता-आंदोलन अपना विषय बनाया है। इस उपन्यास में भी लेखक ने स्थान-स्थान पर परिस्थितियों पर बल दिया है। किंतु साथ ही यह भी बताया है कि उनका मुकाबला न कर कमज़ोरी और बेबसी दिखाना उचित नहीं। बाहर वाली परिस्थितियों से लड़कर हारना या जीतना मनुष्य के वश की बात नहीं (लेखक के शब्दों में नियन्ता सब कुछ है) है। असीम शक्तियाँ उससे खिलाफ केंद्रित हो सकती है। किन्तु अपने अन्दर से हारना या जीतना—यह मनुष्य स्वय कर सकता है। पराजय की भावना मनुष्य के अन्दर है। जब तक वह अन्दर से पराजित न हो, पराजित नहीं। कितना अच्छा होता यदि भगवती बाबू 'भूले-बिसरे चित्र' तथा अन्य उपन्यासों में ऐसा ही स्वस्थ दृष्टिकोण प्रस्तुत करते।

वैचारिक दृष्टि से भगवती बाबू बुद्धिवादी हैं। ज्ञान के अतिरिक्त और किसी देवता पर उनका विश्वास नहीं। बुद्धि ही मनुष्य को पशु से अलग करती है। उनका विश्वास है कि बुद्धि का विकास मानवता का चरम विकास (?) है। वैसे बुद्धि द्वारा बहुत-सी बातें नहीं समझी जा सकतीं, जैसे सृष्टि का रहस्य, तो भी बुद्धि निम्न स्तर की चीज नहीं। मनुष्य में कुरूपता और अपूर्णता दृष्टिगोचर होती है। इसलिए नहीं कि बुद्धि अर्द्ध-विकसित है, वरन् इसलिए कि मनुष्य मन की कमज़ोरी को बुद्धि की कमज़ोरी कह है (बुद्धिवादी होने के कारण न

मुझे धर्म पर विश्वास है, न उपासना पर।) उनका विश्वास है कि बुद्धि से ही मनुष्य पूर्णता प्राप्त कर सकता है। मनुष्य जहाँ प्रकृति पर विजय प्राप्त कर रहा है, वहाँ अपनी पशुता पर विजय प्राप्त नहीं कर सका। वह मुँह चमकाती ही रहती है। जीवन में भावना का महत्त्वपूर्ण स्थान है। बुद्धि उसका नियंत्रण करती है। बुद्धि ने पशुता को थोड़ा-सा दबाया अवश्य है, किन्तु पशुता कभी-कभी उभडकर बुद्धि को अपना साधन बनाकर महानाश का तांडव नृत्य करती है। पूर्ण विकास के लिए मनुष्य को अपने पर विश्वास करना चाहिए। वह स्वयं कर्ता है; स्वामी है। बुद्धि द्वारा मनुष्य को अपनी विवशता नामक कमज़ोरी से लड़ना है। जटिल समस्याओं के वर्तमान युग में यह और भी आवश्यक है। इन सब बातों के साथ-साथ भगवती बाबू ने 'अहं' और 'अहंमन्यता' पर भी विचार किया है। लेखक चाहता है कि प्रत्येक व्यक्ति अहंमन्यता छोड़कर अहं का विकास करे, क्योंकि अहं व्यक्तित्व के लिए आवश्यक है। अह और दूसरों के पार्थक्य से अहंमन्यता उत्पन्न होती है। अहंमन्यता सीमित और अविकसित अहं का गुण है। जिसमे बुद्धि और ज्ञान, जो मानवता के लिए वरदान-स्वरूप हैं, अभिशाप बन जाते हैं। हमारी आज की दुरवस्था का मूल कारण लेखक की दृष्टि में, यह सीमित और सकुचित अहं है। मानवता का यह अभिशाप कैसे दूर हो ? लेखक का मत है कि अहं को असीमत्व प्रदान करना, दूसरों को दूसरा न समझकर अपना समझना—यही अहं का विकास है और यही अहंमन्यता का विनाश है। अपने जीवन के साथ सघर्ष, भूख और बेकारी से संघर्ष करते हुए भगवती बाबू ने आत्मसम्मान और 'अपनेपन' की रक्षा की और यद्यपि वे बहुत दिनों तक खोते ही खोते रहे, पाया कुछ नहीं, तो भी अहं को असीमत्व प्रदान करने की दृष्टि से उन्हें एक सत्य मिल गया। इसी अहं को 'चित्रलेखा' में 'ममत्व' कहकर पुकारा गया है और इसी अहं का विश्लेषण 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में मार्कडेय करता है। भगवती बाबू यह स्वीकार करते है कि मनुष्य का अपना हित कठोर सत्य है। किन्तु हमारे प्रत्येक कार्य का एक और पहलू होता है—वह है दूसरों का सत्य। प्रत्येक कार्य का निजी पहलू बुरा नहीं है; अच्छा भी नहीं है। वह प्राकृतिक है। मनुष्य अपने को संतुष्ट करना चाहता है; यह भी स्वाभाविक है। दूसरों का रक्त चूसने वाला और महादानी दोनों ही आत्मतुष्टि की दृष्टि से अपने-अपने कर्म में प्रवृत्त होते हैं; यह सत्य है। किन्तु दूसरों का हित मानवता का सत्य है। अपने लिए तो पशु भी जीता है। जो उससे ऊपर उठा हुआ है वही मनुष्य है। सीमित अहं पशुता के निकट और मानवता से दूर है। अपने सत्य और मानवता के सत्य का सामंजस्य उपस्थित करना ही अह को असीमत्व प्रदान करना है। संक्षेप में, भगवती बाबू सैद्धान्तिक दृष्टि से नियतिवाद, परिस्थितियों के चक्र में और अहं के असीमत्व इन तीनों बातो मे विश्वास करते हैं उनका यह जीवनदर्शन जीवन के व्यावहारिक अनुभवों पर

आधारित है, न कि तात्विक चिंतन पर और उसमें परस्पर विरोध है। नियति और परिस्थिति के चक्र की बात उठाकर अहं के विकास की चर्चा करना बेतुका-सा लगता है। भले ही कुछ लोग उनके इस जीवन-दर्शन को पंगु बनाने वाला समझें; भले ही कोई उनसे सहमत न हो किन्तु भगवती बाबू किसी को बाध्य नहीं करते; और न बाध्य करने का उन्हें अधिकार है।

परस्पर विरोध के रहते हुए भी भगवती बाबू का जीवन-दर्शन अपने में बहुत बुरा नहीं है किन्तु जैसा मैं पहले कह चुका हूँ, उनकी अधिकांश रचनाओं में यह जीवन-दर्शन ठीक तरह खप नहीं पाया है। फलतः उनकी अनेक रचनाओं और उनके जीवन-दर्शन में एक प्रकार का वैचारिक अलगाव पाया जाता है। 'भूले-बिसरे चित्र' मे भी, दुर्भाग्यवश, मुझे उनका यह जीवन-दर्शन नहीं मिला। मालूम होता है 'भूले बिसरे चित्र' की घटनाएँ, पात्र आदि किसी अज्ञात डोर से बँधे किसी अनवरत प्रवाह में प्रवाहित होते हुए चले जाते हैं। कहीं कोई ऊपर उठता हुआ नजर नहीं आता। इसीलिए सब खोते हुए, टूटते हुए नजर आते हैं और ज्वालाप्रसाद को सबका अस्तित्व ही एक छलना और भ्रम के रूप में दृष्टिगोचर होता है। इसीलिए उनका जीवन स्वतः निर्मित होता है—उसे मानव-शक्ति और प्रतिभा निर्मित नहीं करती - और उसकी रूपरेखा क्या होगी, यह कोई नहीं जानता। यह न जानना और भी अधिक अखरता है, क्योंकि सबके समान उनका भी यह विश्वास है कि यदि अतीत वर्तमान में अनुस्यूत है तो वर्तमान भविष्य में। उपन्यास के अंत मे व्यक्त किया गया दृष्टिकोण स्वस्थ नहीं कहा जा सकता। उपन्यास का मूल स्वर नियतिवाद और परिस्थितियों के चक्र का है, न कि संघर्षों से जूझने वाले और आत्मोत्थान में रत प्रगतिशील व्यक्ति का। कथा के सभी सूत्रों को एक स्थान पर समेटकर रख देने का प्रयास भी उसमें दृष्टिगोचर होता है। किन्तु सभी सूत्रों को मन को समेटने वाला यह केंद्र कृत्रिम प्रतीत होता है। प्रतीत होता है जैसे आस्था-हीन, सिद्धांतच्युत गौरव और मूल्य-मर्यादा से रहित पात्रों से लदे-फँदे कथानक रूपी गुब्बारे की एकदम हवा निकल गयी हो।

कथा-संगठन की दृष्टि से भगवती बाबू ने रोमांटिक यथार्थवाद का आश्रय लेते हुए उसे प्रभावपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करने में सिद्धहस्तता प्रकट की है। उसमें घटनाएँ परस्पर शृंखलाबद्ध रूप में प्रस्तुत की गयी हैं। यह तो निर्विवाद कहा जा सकता है कि भगवती बाबू कथा कहने में प्रवीण हैं। किन्तु कथा-संगठन की दृष्टि से 'भूले-बिसरे चित्र' उपन्यास अपनी वर्णनात्मक शैली के कारण प्रेमचंद-परम्परा में ही परखा जा सकता है। प्रेमचंद की कथाओं की भाँति उसमें स्थूलत्व है। लेखक मनोवैज्ञानिक गहराइयों में नहीं जाता। घटनाओं और पात्रों को ज्यादा नहीं कुरेदता; उनके सूक्ष्म पक्ष नहीं उभारता। वर्णन करने की शक्ति वर्मा जी में अच्छी है साथ ही जिस प्रकार प्रेमचंद के कई उपन्यासों में कथा का बिखराव

करता है। इन सामाजिक नियमों को तोड़ा नहीं जाता, इन नियमों को केवल बदला जाता है और इन्हे बदलने की क्षमता महान त्यागियों और तपस्वियों में ही मिलेगी, हम जैसे साधारण गृहस्थों में नहीं। इस सामाजिक धर्म के बाद वैयक्तिक धर्म आता है—दया, त्याग, ममता, प्रेम, सत्य, अहिंसा आदि का। लेकिन यह धर्म व्यक्तिगत जीवन से संबद्ध है, समाज से नहीं। हम वैयक्तिक धर्म का पालन करते हुए सामाजिक धर्म का पालन करने को बाध्य हैं। यदि सामाजिक व्यवस्था के आगे हम सिर नहीं झुकाते तो हम अराजकता के पाप के भागी होते हैं, और सामाजिक प्राणी होने के कारण हम गृहस्थ लोग अराजक बन ही नहीं सकते।"

इस संदर्भ में मुंशी शिवलाल, छिनकी, घसीटे और ज्वालाप्रसाद का चरित्र भली-भाँति समझा जा सकता है। यद्यपि शिवलाल परम्परा की सीमाएँ तोड़ने में असमर्थ रहता है। तो भी तदनुकूल उसका व्यक्तित्व भली भाँति उभरा है। खुशामद, अपने को परिस्थिति के अनुकूल ढालने की क्षमता, दूसरों पर अपना प्रभाव डालने की शक्ति आदि की दृष्टि से उसके चरित्र का एक पक्ष दृष्टिगोचर होता है, तो छिनकी के साथ सम्बन्ध में उसका दूसरा पक्ष। सामन्ती वर्ग की विलासिता और अवैध प्रेम के बावजूद भी उसे गौरव और मर्यादा का ध्यान बना रहता है। और वह उसे पत्नीत्व का पद तक प्रदान करता है। अपनी मृत्यु के समय वह ज्वालाप्रसाद से छिनकी की मान-मर्यादा की रक्षा की भीख भी माँगता है। वास्तव में शिवलाल के चरित्र मे भगवती बाबू ने पूरी स्वाभाविकता बरती है। उसके व्यक्तित्व द्वारा सामंतवर्गीय प्रवृत्तियाँ भली भाँति स्पष्ट हो जाती हैं। वह अपने वर्ग का सच्चा प्रतीक है। छिनकी-घसीटे का सम्बन्ध सामंत वर्ग के ही साथ है, किन्तु ये उन लोगों में से थे जो अपनी सच्चाई और 'स्वामि-भक्ति' के वशीभूत होकर अपना निजत्व तक खो बैठते थे। छिनकी को अपनी मान-मर्यादा का पूरा ख्याल रहता है। ज्वालाप्रसाद उसे अपनी माँ के समान समझता है। ज्वालाप्रसाद नवोदित मध्यम वर्ग का प्रतीक है। उसमे वे सभी विशेषताएँ हैं जो तत्कालीन मध्यम वर्ग में पायी जाती थीं। वह न तो परंपरा से विमुख होने की शक्ति रखता है और न एकदम नवीन जीवन-क्रम ग्रहण करने का साहस। वह प्राचीन और नवीन के बीच की कड़ी है। भगवती बाबू ने ज्वालाप्रसाद का चरित्र भी भली भाँति चित्रित किया है। इसके अतिरिक्त उपन्यास में उस सामाजिक व्यवस्था का भी उल्लेख हुआ है जो प्राचीन की तुलना में नयी थी और जिसके अन्तर्गत शिवलाल के समय की मान-मर्यादा के स्थान पर प्रेम का क्रय-विक्रय होने लगा था। इस व्यवस्था के अंतर्गत स्त्री को स्वार्थ-पूर्ति का साधन बना लिया गया था, जिसका अस्तित्व केवल पुरुष की विलासिता की तृप्ति के लिए था। यह समय भारत में पूँजीवाद के उदय का समय भी था। दीन, ईमान, सत्य, चरित्र आदि सब कुछ बिकने लगा था भगवती बाबू ने इस सामाजिक स्थिति की अपनी

व्यग्यपूर्ण शैली में खरी आलोचना की है।

यहाँ नैतिक मान-दंडों और मूल्य-मर्यादा की समस्या सामने आती है। उपन्यासकार अपनी अंतर्दृष्टि द्वारा जीवन को देखता और युग-सत्य, युगीन भाव-बोध तथा मानवीय सम्बन्धों के नये आयाम खोज निकालता है। नैतिक मानदंड और मूल्य-मर्यादाएँ स्थापित करने के लिए शब्दाडंबर या कृत्रिम आक्रोश या ऊपर से लादे गये कथोपकथनों से काम नहीं बनता। इस कार्य के लिए वह मार्मिकता और शक्ति चाहिए जो प्रेमचन्दकृत 'निर्मला' में दृष्टिगोचर होती है। कलाकार के इस उत्तरदायित्व को दृष्टिपथ में रखते हुए गंगाप्रसाद, राधाकिशन, संतो, राजा रिपुदमन सिंह, कैलासो, होमवती आदि अपनी-अपनी रूमानी प्रवृत्तियाँ लेकर आते हैं, किन्तु इससे इन पात्रों के व्यक्तित्व अच्छी तरह उभर नहीं पाये। इन पात्रों के सम्बन्ध में भगवती बाबू की वही कमजोरी दिखायी देती है जो 'चित्रलेखा' में थी। बदलती हुई सामाजिक व्यवस्था के योग्य जैसे मांसल पात्र होने चाहिए थे वैसे ये पात्र नहीं है। रिपुदमनसिंह के तीखेपन में भगवती बाबू स्वयं बोलते प्रतीत होते हैं। अन्य पात्रों के कथन से नये समाज की एक धुँधली तस्वीर सामने आती है, परन्तु उसमें संतुलन नहीं है।

यद्यपि भगवती बाबू स्वयं बुद्धिवादी हैं और भावुकता को अधिक प्रश्रय देने के पक्ष में नहीं हैं, तो भी उनके ये पात्र भावुकता के साथ अधिक चित्रित हुए हैं। उनके ये पात्र नयी उभरती हुए सामाजिक व्यवस्था के विविध पक्षों का ठीक-ठीक मूल्यांकन नहीं कर पाते। इस असमर्थता के कारण इन पात्रों में कोई विशेष जान मालूम नहीं पड़ती। जब सारी प्राचीन आस्थाएँ और धारणाएँ विघटित हो रही थीं, आत्मविश्वास के साथ पाले हुए मूल्य खंडित हो रहे थे, नयी उमंग लिये विद्या और नवल राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लेते और जेल जाते हैं। समाज का यह अभिनव रूप समझने में ज्वालाप्रसाद असमर्थ रहता है। विद्या और नवल, जो उल्लास और उमंग से भरी एक नयी दुनिया के प्रतीक माने जा सकते हैं, अपना-अपना व्यक्तित्व पूर्णतः उद्घाटित नहीं कर पाते। यह इस उपन्यास की सबसे बड़ी त्रासदी है। इन दोनों पात्रों को दृष्टि में रखते हुए उपन्यासकार ज्वालाप्रसाद के मुख से यह कहलाकर कि दूसरे हजारों, लाखों, करोड़ों आदमी जीवन और जाति से प्रेरित नवीन उमंग और उल्लास लिए हुए एक नवीन दुनिया की रचना के लिए चले जा रहे थे प्रगतिशीलता का क्षीण संकेत अवश्य देता है, किन्तु दुर्भाग्यवश यही प्रगतिशीलता उपन्यास का प्रधान अंग नहीं है। वास्तव में उपन्यासकार का मुख्य उद्देश्य एक ऐसे समाज का चित्रण करना रहा है जो अपने गुण-दोष लिये हुए बिखर चुका था। बिखर रहे समाज का चित्रण करना अपने में बुरा नहीं है। जो चिंत्य बात है वह यह है कि उपन्यासकार हमें पुराने के स्थान पर नये के निर्माण करने की प्रेरणा नहीं देता। यदि यह कहा जाय कि लेखक का

उद्देश्य चित्रण कर देना भर है, प्रेरणा ग्रहण करना या न करना पाठक की अपनी चित्तवृत्ति पर निर्भर है, तो यह कलाकार का कला-दौर्बल्य ही कहा जायगा।

'निर्मला' और 'गोदान' में प्रेमचन्द ने भी वही किया है जो भगवती बाबू ने 'भूले-बिसरे चित्र' में किया है। किन्तु 'निर्मला' और 'गोदान' में एक जीर्ण-शीर्ण परम्परा और व्यवस्था के प्रति आक्रोश और विद्रोह की भावना भर हमें आगे बढने का प्रोत्साहन प्रदान करते है। 'भूले-बिसरे चित्र' में नवीन मूल्य स्थापित करने की वह शक्ति नहीं है। उपन्यास में जो कथन क्रांतिकारी और समाज के चेहरे से नकाब हटा कर उसके असली घिनौने रूप की ओर संकेत करने वाले है वे समूचे उपन्यास के संदर्भ में लेखक द्वारा ऊपर से आरोपित किये गये प्रतीत होते है। संभवत: लेखक चाहता रहा होगा कि वह उल्लास और उमंग से भरी दुनिया का भी चित्रण करे, किन्तु उसे सफलता प्राप्त नहीं हो सकी। वास्तव में यह कहते हुए बड़ा दुख होता है कि भगवती बाबू जैसे कलाकार की लेखनी से सिद्धांतहीन आस्था-च्युत और मूल्य-मर्यादारहित पात्रों का निर्माण हुआ और ऐसे ही पात्र ले कर उन्होंने उपन्यास का प्रासाद खड़ा किया। कुछ शिल्प प्रयोगों और शिथिल वाक्य-विन्यासों को छोड़कर भाषा उपन्यासों जैसी ही है।

अंत में मैं यही कहना चाहता हूँ कि ऐसे समाज का चित्रण करना जिसमे पुराने मूल्य भू-लुंठित हो गये हों और नये मूल्य जन्म धारण कर रहे हों, बहुत कठिन है। भगवती बाबू जैसे सूक्षम कलाकार के लिए यह कठिन कार्य सम्पन्न करना सम्भव था। उन्होंने इतिहास के विशाल फलक का पर्यवेक्षण किया है। इस दृष्टि से 'भूले-बिसरे चित्र' का हिन्दी के उपन्यास-साहित्य में विशेष स्थान है। यह दूसरी बात है कि समाज के प्रति अपने जीवन का आक्रोश असंतोष और कटुता अलग न रख सकने के कारण वे एक बीते हुए युग की मूर्ति सफलतापूर्वक गढ नही सके। 'गोदान' की समकक्षता न कर सकने और कुछ दोष होने पर भी 'भूले-बिसरे चित्र' को उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता।

नयी प्रवृत्तियों की विशद व्याख्या 'झूठा-सच'[1]

यूरोपीय देशों में युद्ध का जो महत्व जन-मानस पर पड़ा है, वही हमारे यहाँ देश के विभाजन का पड़ा है। लेकिन युद्ध ने वहाँ साहित्य को जिस कदर प्रभावित किया, वह हमारे यहाँ विभाजन ने नहीं, हालाँकि इसके कोई निश्चित कारण नहीं है। पंजाब की देन हिन्दी उपन्यास साहित्य में कम महत्वपूर्ण नहीं है और ऐसे बहुत से लेखक हैं, जो विभाजन के पश्चात् ही इधर आए और जिनका विभाजन की पाशविकता और नृशंसता से सीधा साक्षात्कार है, लेकिन उन्होंने उन दिल दहला देने वाली स्थितियों को वाणी देने में अपनी प्रतिभा का उपयोग जाने क्यों नहीं किया। इनमें से अधिकांश लेखकों ने, यहाँ तक कि मोहन राकेश तकने आधुनिकता के चक्कर में पड़कर स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों का विश्लेषण करने में अपनी दृष्टि जितनी केन्द्रित की, उतनी उस संक्रान्ति का चित्रण करने में नहीं, जिसकी वे देन हैं। कई साल पहले मैंने रामानन्द सागर का एक उपन्यास 'और इन्सान मर गया' तथा बलवन्तसिंह का 'काले कोस' पढ़ा था और तब लगा था कि किसी बड़ी रचना की भूमिका निश्चितरूप से बन रही है और विभाजन की विषमताओं पर कोई सशक्त मानवीय रचना आएगी। यशपाल का 'झूठा-सच' इस दिशा में एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

पहले भाग में भोला पांधे की के गली लोगों के जीवन का अत्यन्त सूक्ष्म और ब्यौरेवार चित्रण मार्मिक अनुभूतियों के साथ किया गया है और उस वातावरण को अभिव्यक्त किया गया है, जो मुस्लिम लीग और जिन्ना के पाकिस्तान की माँग को लेकर उभर रहा था और जो १९४२ से ही वहाँ के लोगों को विभाजित करने लगा था। इस गली के निम्न-मध्यवर्गीय लोगों के आचार-व्यवहार, सांस्कृतिक परम्पराओं, समाजगत एवं व्यक्तिगत सन्दर्भ को उनके बाह्य जीवन एवं आन्तरिक जीवन के सन्तुलन में देखने का प्रयत्न किया गया है। भोला पांधे की गली का इतना व्यापक चित्रण हुआ है कि उसमें विभाजन के पूर्व का सारा लाहौर

1 'झूठा-सच' प्रथम भाग १९५८ द्वितीय भाग १९६० विप्लव

सिमट आया है। इसके साथ ही धार्मिक संकीर्णता, राजनीतिक विचार-धारा और विभिन्न मतवादों का भी बड़ा कुशल संगुफन इस भाग में हुआ है। यह चित्रण इतना घनीभूत तथा यथार्थ है कि विभाजन पूर्व लाहौर के हिन्दुओं तथा मुसलमानों के सामूहिक तथा वैयक्तिक संस्कार, उनके चरित्र एवं आचरण, धर्म के प्रति उनकी झूठी या सच्ची प्रतिबद्धता, मान्यताओं के विभाजन एवं नैतिक-अनैतिक मूल्यों का उलझाव अपनी पूर्णता के साथ हमारे सामने स्पष्ट हो जाता है।

यह वर्णन मानवता की सही तसवीर सामने लाता है, साथ ही यह भी कि राजनीतिक नेता अपने निजी स्वार्थों एवं निहित संकीर्णताओं में यथार्थ से कितना च्युत हो गए थे कि अपने नेतृत्व की महत्वाकांक्षाओं के सामने उन्हें उन असंख्य लोगों का किञ्चित् भी ध्यान नहीं था, जिनके नेता वे थे। इसके दो चित्र पर्याप्त होंगे—

"यह तो हिन्दुनी है।" उसने घृणा से हिन्दू स्त्रियों की जननेन्द्रिय में आग लगने की गाली देकर कहा, "इन्हें खराब किया तो क्या ? ये बेहया तो इसी लायक हैं।"

"फिट्टे मुंह ! क्या कुफ्र, बकती है तोबा कर।" तारा की पीठ सहलाते हुए ताजो ताई ने उसे डांट दिया, "तेरे लिए हिन्दू ऐसा कहें तो कैसा लगे ? औरत को तो औरत का दरद होना चाहिए। खुदा न करे तू किसी ऐसे के बस पड़ जाए। अल्लाताला ने हिन्दू-मुसलमान मर्दों में तो फरक किया है, औरतों में तो उसने भी कोई फरक नहीं रखा··· 'खुदावन्द ने तो मर्द पर फर्ज आमद किया है कि औरत पर रहम करे और उसकी हिफाजत करे क्योंकि औरत मर्द को अपने जिस्म में पैदा करती है और पालती है···"

"खाक रहम और हिफाजत करते हैं।" मेहर ने क्रोध प्रकट किया, "बेहया जहाँ से निकलते हैं, उसी की बेइज्जती करते हैं। मर्द मुहब्बत करे तो, गुस्सा करे तो, उनका सब ज़ोर वहीं उतरता है। देखो तो बेचारी के जिस्म पर कैसी रगड़े लगी हैं, चमड़ी उतर गयी है। इस गरीब की भी हड्डियाँ तोड़ गया है।" यह बेचारी खुदकशी की कोशिश न करती तो क्या करती ? गरीब औरत के पास सिवा मर जाने के और चारा ही क्या है ?"

यह तो लाहौर की हालत थी, जब विभाजन हुआ और मुसलमानों की प्रतिक्रिया इस रूप में उभर आई थी। जो वर्षों से उनके साथ रहते थे और उनके दुख-दर्द में सम्मिलित होते थे, उन्हीं हिन्दुओं के प्रति उनकी तथाकथित मानवीयता सहसा पाकिस्तान बनने की घोषणा के बाद पाशविकता में बदल गई। इसकी प्रतिक्रिया सीमा-रेखा के पार हिन्दुओं में भी होनी स्वाभाविक थी। इसका एक विवरण इस प्रकार है, "एक आदमी खेल करने वाले नट की तरह बाँस को ऊँचा उठाये था। उसके साथ के लोग नगाड़ों की तरह कनस्तरों को बजा रहे थे।

कुछ लोग होठों पर उल्टी हथेली रखे, ऋतुमती बकरी को देखकर उन्मादित बकरे की तरह ब्ब ! ब्ब ! ब्ब ! शब्द से हुँकार कर रहे थे। बाँस के सिरे पर एक स्त्री का नंगा शरीर था। स्त्री बाँस के सिरे पर टाँगें फैलाये अटकी हुई थी। दोनों टांगों पर ताज़ा खून क्षितिज से झाँकते सूर्य की किरणों में चमक रहा था। स्त्री की गर्दन और बाँहें निर्जीव, शिथिल लटकी हुई थीं। बाँस उठाकर चलने वाले आदमी के सामने भी हाथों से चेहरे छिपाये चार-पाँच नंगी स्त्रियाँ धकेली जा रही थीं। यह लोग मुस्लिम काफिले को घृणित गालियों से ललकार रहे थे—' ले जाओ, ले जाओ ! अपनी माओं-बेटियों को पाकिस्तान ले जाओ।'' इस वर्णन की यही विशेषता है कि यशपाल की चयन दृष्टि बड़ी सूक्ष्म रही है और उन्होंने उन सभी हृदय को दहला देने वाली स्थितियों का चुनाव बड़ी कुशलता से किया है, जो मानवता की हत्या कर रही हैं। उन्होंने किसी भी धर्म या मतवाद का पक्षधर बनने की चेष्टा नहीं की है, इसीलिए यह वर्णन इतना तटस्थ एवं संतुलित बन सका है। वस्तुतः 'झूठा सच' में यशपाल की निःसंगता ही उनकी अनुभूतियों को प्रामाणिक बनाती है।

जहाँ तक दूसरे भाग का प्रश्न है, उसमें विभाजन के तुरन्त बाद दिल्ली के कुछ वर्षों के विशृंखलित जीवन का विस्तृत चित्रण है। यहाँ यशपाल की अपनी विचारधारा अधिक स्पष्ट हुई है, यद्यपि वह मतवाद की उतनी संकीर्ण गलियों से नहीं गुज़रती जितनी उनके 'दादा कामरेड', 'दिव्या' या 'मनुष्य के रूप' आदि उपन्यासों में, फिर भी इसमें उनका वह दृष्टिकोण तो प्रतिफलित होता ही है, जिसने उन्हें 'गांधीवाद का शव परीक्षा' लिखने की प्रेरणा दी थी। दूसरे भाग मे नेताओं की कुत्सित स्वार्थ नीति, उनके त्याग, तप एवं संयम का पर्दाफाश, राज-नीतिक आन्दोलनों की सत्यता, भ्रष्टाचार, पद-लोलुपता, कुत्सित प्रवृत्तियों एवं नैतिक चारित्रिक विघटन को विराट धरातल पर अपने समस्त आयामों के साथ उद्घाटित किया गया है। इसमें वर्णन विस्तार तो है और यशपाल के विशद अनुभवों का भी परिचय मिलता है, लेकिन इसमें उतनी गहराई नहीं है, जितनी पहले भाग में। पहला भाग जितना हृदय विदारक एवं मार्मिक है, दूसरा भाग उतना नहीं। वह केवल स्थूलता का परिचय देकर रह जाता है और ऐसा आभास देता है कि जैसे विभाजन के बाद किसी प्रेस रिपोर्टर ने बड़ी कुशलता से सात-आठ वर्षों के अखबारों की प्रमुख 'सुर्खियाँ' और खबरें सिलसिलेवार सगुफित कर दी हो और उसे एक क्रमबद्ध कथानक का जामा पहना दिया हो। यही कारण है कि पहले भाग में यशपाल की जिस सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि का परिचय मिलता है, वह दूसरे भाग में नहीं है। पहला भाग पाठकों के मन में आवेश, उग्रता तथा पाशविकता के प्रति स्वयं घृणा उत्पन्न करता है और यही उसकी सफलता है। इसके विपरीत दूसरे भाग में स्वयं लेखक का आवेश एवं उसकी उग्रता अभिव्यक्त हुई है, जो उसे

बहुत गहराई नहीं प्रदान करती।

लेकिन इससे यह नहीं समझना चाहिये कि 'झूठा-सच' में केवल विभिन्न राजनीतिक पहलुओं का ही विशद चित्रण हुआ है। इसमें राजनीतिक पक्ष के साथ-साथ जबर्दस्त मानवीय पक्ष भी है। तारा, असद, कनक, जयदेव पुरी, सोमराज, नैयर तथा गिल, हाफिज जी आदि असंख्य पात्र इसमें आए हैं, जो केवल राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति नहीं करते, वरन् प्रेम, विवाह, सामाजिक दायित्व, आचार-व्यवहार तथा सामूहिक एवं वैयक्तिक संस्कार आदि मानव जीवन के अनगिनत पक्षों का उद्घाटन करते हैं। इन लोगों के माध्यम से यशपाल बड़ी सूक्ष्मता से यह दिखा सकने में सफल हो पाए हैं कि वे मान्यताएँ जिनके सम्बन्ध मे हमें अहंकार था कि कभी खोखली सिद्ध ही नहीं हो सकतीं, अवसर पाते ही कैसे नए सन्दर्भों से टकराकर चूर-चूर हो जाती हैं और जीवन की सारी स्थिरता तब स्वयंमेव विच्छिन्न हो जाती है। वे व्यक्ति, वे लोग, वे जीवन पद्धतियाँ, जिनमे अपूर्व आत्मविश्वास था, दृढ़ता थी—सहसा अपने मूल से उखड़कर इस प्रकार शून्य में बिखर जाते हैं कि उनका कोई अस्तित्व भी शेष नहीं रहता। गरिमा मंडित व्यक्ति क्षण-भर में ही लांछित और घृणित हो जाता है और हेय तथा विकृत व्यक्ति पल-भर में गौरव-मर्यादा का प्रतीक बन जाता है, यही जीवन की विडम्बना है जो यशपाल के इस उपन्यास में राजनीतिक धरातल के नीचे-नीचे बड़ी गहराई एवं सूक्ष्म संवेदना के साथ अपूर्व वेदना एवं करुणा के साथ गतिशील होती रहती है, जिसका विस्फोट राजनीतिक कथानक के विस्फोट से कहीं अधिक भयानक एवं तीखा है। राजनीतिक कथानक का विस्फोट तो देश के टुकड़े-टुकड़े कर देता है, लेकिन मनुष्यों की इस विडम्बना का विस्फोट मनुष्यता को चरम रूप से विच्छिन्न कर देता है, यही 'झूठा-सच' का मूल उद्देश्य है।

इस उपन्यास का नामकरण बहुत सार्थक इसलिए है कि इसमें जो कुछ हम कल्पना नहीं कर पाते, वही सच है और जिसकी सत्यता हम निरन्तर प्रमाणित करते रहते हैं, वही झूठ साबित हो जाता है। किसने सोचा था कि शताब्दियों से स्थापित मान्यताएँ एवं जीवन पद्धतियाँ इस प्रकार एक घोषणा मात्र से झूठ साबित हो जाएँगी और सारी मनुष्यता दिशाहारा की भाँति भटकने के लिए विवश हो जाएगी। और किसने इस बात की कल्पना की थी कि वह घृणा, हिंसा, अनैतिकता तथा पड़ोसी द्वारा पड़ोसी की हत्या, अपनी ही माँ-बहनों का विदेशी आततायियों के हाथों नहीं, अपने ही आत्मीय, भाई, बुजुर्ग, रिश्तेदार के हाथों से सतीत्व मिट्टी में मिल जाएगा और उनकी सारी पवित्रता, मर्यादा एवं प्रतिष्ठा मिटाकर जीवन-भर के लिए एक कलक एवं तिल-तिलकर मरने के लिए घृणास्पद अतीत धरोहर में दे दिया जाएगा। लेकिन यह सब सच निकला। गलियों मे, गन्दी नालियों में अबोध बच्चों, माँ-बहनों का रक्त पानी की तरह बह रहा था

तथा सड़क के दोनों ओर बहुत-सी आधी खाई, धूप से सूखकर, वर्षा से सड़कर काली हो गई लाशें पड़ी हुई थीं। लाशों पर बहुत-से गिद्ध कूद और उछल रहे थे कुछ कौवे चोंचें मार रहे थे। जहाँ-तहाँ टूटे हुए बकस मुँह बाये पड़े थे। आधी जली हुई कई बसें सड़क के दाएँ-बाएँ पड़ी थीं···इतनी मक्खियाँ कि मक्खियों को मांस के साथ नाक में घुसने से रोकने के लिए उन्हें दोनों हाथों से निरन्तर हटाते रहना आवश्यक था। उबकाई पैदा करने वाली भयंकर दुर्गन्ध--मानो वे शरीर चलते-फिरते भी सड़ते-गलते जा रहे थे। भीड़ के घिसटते क़दमों से उड़ती धूल से साँस लेना और भी दुष्कर हो रहा था।" यह भी सच निकला। पुरी का जीवन भी सच नहीं निकला और न तारा का। वह सोमराज के 'झूठे' विवाह से किसी प्रकार मुक्ति पाती है साथ ही हाफ़िज़ जी जैसे धार्मिक नेताओं के 'झूठे' आडम्बर से भी। उसे डाक्टर प्राणनाथ का सच प्रेम भी प्राप्त होता है। यशपाल ने प्रारम्भ में कहा भी है कि "सच को कल्पना से रंग कर उसी जन-समुदाय को सौंप रहा हूँ जो सदा झूठ से ठगा जाकर भी सच के लिये अपनी निष्ठा और उस की ओर बढ़ने का साहस नहीं छोड़ता।" इसे नैयर और भी रूपायित करते हुए ही कदाचित् कहता है कि, "घटना तो झूठ-सच नहीं होती, झूठ-सच तो घटना को प्रकट करने के प्रयोजन में होता है। मूल सत्य को प्रकट करने के लिए प्रयत्न करना या उसे जमाना भी आवश्यक होता है। सच को बल देने के लिए साक्षी आवश्यक होती है।" इसमें कोई सन्देह नहीं कि यशपाल ने जहाँ सच चित्रित किया है, वह तो सच है ही, किन्तु जहाँ उन्होंने कल्पना का रंग भरकर झूठ को सच बनाने की कोशिश की है, वह सच नहीं बन सका है और झूठ छिप नहीं पाया है। शायद यही यशपाल का 'झूठा-सच' है।

इस सन्दर्भ में तारा को ही लें। जहाँ तक उसके प्रथम भाग का व्यक्तित्व है, वह सच है। 'तारा बचपन से मास्टर जी के धार्मिक विश्वासों का अनुशासन सहती आई थी। मास्टर जी उसे और बड़े भाई जयदेव को प्रातःकाल खूब तड़के उठकर स्नान करने के लिए विवश करते थे। समीप बैठा कर सन्ध्या-भजन कराते आये थे। ऐसी ही बात पोशाक और दूसरे व्यवहारों के बारे में थी।··तारा कालेज में भरती हो गई तो उस पर भी नियंत्रण कुछ शिथिल हो गया था परन्तु उससे पहले तारा को भी केशों की एक ही चोटी बनाने की आज्ञा थी। घर से बाहर जाते समय सिर ढके रहना आवश्यक होता था।···तारा को पिता के आदेश और नियम अरुचिकर लगते तो उसे अपनी रुचि पाप की ओर होने की शंका से स्वयं अपने प्रति ग्लानि होती थी। सहपाठियों और फैडरेशन के साथियों की संगति में उसे जान पड़ा कि वह स्वभाव और रुचि से अपराधी नहीं थी। वह आत्म सम्मान अनुभव करने लगी। रेस्टोरेन्ट में कभी जुबेदा, असद या जुबे के साथ बैठकर निःसंकोच कुछ खा पी लेने से उसे मिथ्या संस्कारों से मुक्ति का

सन्तोष होता था। इनमें से किसी लड़के से निःसंकोच बात करते हुए साथ-साथ चलने पर समता और आत्म-विश्वास की अनुभूति होती थी। इससे पूर्व किसी लड़के से बात करना वह निन्दा का कारण और कुचेष्टा ही समझती थी। तारा अपनी गली में पिता जी और गली के लोगों के लिहाज़ से अपना व्यवहार बहुत कुछ पूर्ववत बनाये रहती। कालेज में वैसा व्यवहार उसे हास्यास्पद लगता था।" तारा का यह परिवर्तन क्रमिक गति से होता रहता है। वह सामाजिक जीवन में अधिक-से-अधिक भाग लेती है और उसके साथ ही धीरे-धीरे असद के साथ उसकी प्रगाढ़ता भी।

उसका भाई जयदेव पुरी इसे नापसन्द करता है। पुरी स्वयं कनक को चाहता है और उससे मिलने के लिए तारा को माध्यम बनाता है, किन्तु जब बहन के प्रेम का प्रश्न आता है, तो वह उबल पड़ता है और उसे धक्का देकर गिरा देता है। उसके खून निकलने पर वह एक बहाना बना देता है। इस पर तारा विक्षुब्ध होकर सोचती है, 'दूसरों की लड़की को चोरी से संदेश भेजकर बुलाने में इनकी इज्जत नहीं बिगड़ती। परिवार की सब इज्जत मेरे ही बलिदान में है। यही न्याय, सत्य, देशभक्ति और हिन्दू-मुस्लिम एकता है? पर कैसे कह दूँ, किसी को क्या मतलब? जो चाहूँगी करूँगी, कहकर रहूँ कहाँ? मर्द तो सड़क पर घूमकर, पार्क में बेंच पर भी रात बिता दे सकते हैं?···अन्याय से मुक्ति के लिए पाये दाग को माथे पर लेकर किसे मुँह दिखा सकूँगी?" वह एक मौन विद्रोह करके रह जाती है। असद पार्टी का बहाना बनाकर मुकर जाता है और तारा सिर्फ यह कहने कि वह सोमराज से विवाह नहीं करेगी, कुछ और नहीं कर पाती। यह बात काफ़ी फैल जाती है और सोमराज विवाह के बाद पहली रात ही कहता है, "···भूखे मास्टर की औलाद, तेरी हिम्मत कि मुझसे शादी के लिये मिजाज दिखाये?·· बी० ए० पढने का बहुत घमण्ड है? तेरी जैसी बीसियों को टाँगों के बीच से निकाल दिया है? देखूँगा तुझे! गली-गली कुत्तों और गधों से न रौंदवा दिया।··" तारा आत्म-समर्पण नहीं करती। इसी बीच रात दंगे-फसाद की आग भड़क जाती है और सोमराज अपनी नव-विवाहित पत्नी को छोड़कर जान बचाने के लिए भाग जाता है। तारा भी भागती है, किन्तु एक मुसलमान गुंडे के चक्कर में पड़ती है, वहाँ से किसी प्रकार हाफ़िज जी के यहाँ पहुँचती है, जो उसके इस्लाम न स्वीकारने के कारण निकाल देते हैं और वह लड़कियाँ बेचने वाले एक मुस्लिम गिरोह के हाथ मे पड़ जाती है और जब तारा ने आँखें खोलीं तो धुँधला-धुँधला-सा और अपरिचित बड़ा-सा आँगन दिखायी दिया। मुख पर जलन और सिर में दर्द और चक्कर जान पड़े। उसे लगा, कोई भयंकर स्वप्न देखकर नींद टूट गई है। पलकें खोलने पर तीन स्त्रियाँ आपस में लड़ती हुई दिखायी दीं। एक के शरीर पर कोई भी कपड़ा नहीं था एक के शरीर पर केवल सलवार थी और तीसरी के शरीर

पर केवल लम्बा कुरता था। दो और भी स्त्रियाँ थीं। उनके शरीरों पर कमीजें और सलवारें थीं। दुपट्टा किसी के सिर पर नहीं था।···उनकी बातचीत सुनकर तारा ने समझा, वह मूर्छा और नींद में थी तो वस्त्रहीन स्त्री उसका कपड़ा उतार लेना चाहती थी।" उसकी विवाह की असफलता पर ही शायद नैयर कहता है "परन्तु विवाह केवल भावात्मक सम्बन्ध नहीं होता, आप मानेंगे। विवाह केवल दो व्यक्तियों का ही सम्बन्ध भी नहीं होता। कम-से-कम हमारे समाज में, यह परिवारों का भी सम्बन्ध बन जाता है।" चूँकि सोमराज के सन्दर्भ मे यह परिवारो का सम्बन्ध नहीं विकसित हो पाया, इसीलिए तारा की इतनी दुर्गति होती है और बार-बार उसे मर्यादा-च्युत होना पड़ता है।

प्रथम भाग में आया तारा का यह चरित्रपूर्ण यथार्थ है और पूरी स्वाभाविकता के साथ प्रस्तुत किया गया है, किन्तु दूसरे भाग में अति-नाटकीय हो गया है और सयोग तत्वों, आकस्मिकता एवं अविश्वसनीय प्रसंगों का सहारा लेकर आदर्शवाद उस पर पूरी तरह से आरोपित कर दिया गया है। नब्बू से बलात्कार के पश्चात् उसे जघन्य यौन-व्याधि लग जाती है और वह अपने नए प्रेमी डॉ० प्राणनाथ से स्नेह-सम्मान पाने के बावजूद विवाह की कल्पना से काँप जाती है। बड़ी नाटकीय परिस्थितियों को पार करती हुई वह भारत सरकार में अण्डर सेक्रेटरी बन जाती है, इसलिए खुले रूप में इलाज भी नहीं करा सकती। दूसरे एक नया सिर दर्द उत्पन्न होता है। तारा के इस नए व्यक्तित्व से जयदेव का अहं आहत होता है और वह सोमराज को उकसाता है कि वह तारा पर अपना अधिकार जताए। उच्च-अधिकारी होने के नाते तारा के आचरण की जाँच होने लगती है और अन्त मे वह बरी हो जाती है। डॉ० प्राणनाथ उसे इलाज के लिए विदेश ले जाने को प्रस्तुत होते हैं। यह सब बड़ा नाटकीय लगता है और ऐसा लगता है कि बुरा कर्म करने वालों को नारकीय जीवन प्राप्त हो, आदर्शयुक्त व्यक्तियों को जीवन के सब सुख मिलें—हरिश्चन्द्र-तारामती का यह कथा-आदर्श प्राप्त करने के लिए तारा की बाद की गतिविधियाँ यांत्रिक ढंग से संगठित की गई हैं।

उसकी तुलना में जयदेव पुरी अधिक स्वाभाविक लगता है। उसमे मनुष्य की स्वभावगत अच्छाइयाँ और बुराइयाँ दोनों है। कनक को प्राप्त करने की आकाक्षा रखते हुए भी वह नैयर से स्पष्ट कह देता है, "मैंने तो निर्णय उसी पर छोड़ दिया है मैं किसी का जीवन कटु नही बना देना चाहता।" इस प्रसंग में विशेष रूप से पूरे प्रथम भाग में पुरी का व्यक्तित्व थोड़ी-बहुत गरिमा का आभास अवश्य देता है। उसकी उग्रता, आवेश, विद्रोह भावना तथा सक्रियता सभी कुछ परिस्थितियों के सदर्भ में यथार्थ प्रतीत होती हैं, किन्तु दूसरे भाग में जाते-जाते उसका चरित्र बदल जाता है। उसकी संगति पहले भाग से बिल्कुल नहीं बैठती। बहुत कुछ अंशों में मनोवैज्ञानिक धरातल पर यह अस्वाभाविक भले ही न लगे पर उपन्यास

की दृष्टि से अनावश्यक तो लगता ही है, तारा की ही तरह उसे निर्जीव भी कर देता है। तारा के प्रति उसका जो आक्रोश है और जिस किशोर-सुलभ ढंग से वह सोमराज को अपनी सगी बहन का सुखमय जीवन नष्ट करने के लिए भड़काता है, अयथार्थ है और उसका कोई भी ठोस आधार यशपाल नहीं दे पाए हैं। इसी प्रकार एकाएक यह नहीं समझ में आता कि वह कनक से क्यों विमुख हो जाता है। कनक में भावुकता अधिक है, साथ ही उसमें आचरण का संयम है। कम-से-कम उसका चरित्र कहीं से तोड़ा-मरोड़ा नहीं गया है, इसीलिए प्रभावित भी करता है और विश्वसनीय भी बन पड़ा है।

उपन्यास के प्रथम भाग में जो राजनीतिक विचार आए हैं, वे विशेषकर हिन्दू-मुस्लिम एकता से ही सम्बन्धित हैं। एक स्थान पर असद कहता है, "अगर धर्म या सम्प्रदाय के विश्वासों की पृथकता के बावजूद हिन्दू-मुसलमानों के सामाजिक सम्बन्ध होते रहें तो आपसी झगड़ा कितना कम हो जाए। वास्तव में हिन्दू या मुसलमान साम्प्रदायिक विश्वास को ग्रहण करने का कुछ अर्थ भी नहीं होगा। अब तो जो जिस घर या विश्वास में पैदा हो गया, वही बन गया। साम्प्रदायिक विश्वासों का भेद जातियों का भेद बना दिया गया है।" एक अन्य स्थान पर वह नरेन्द्रसिंह, जुबेदा, सुरेन्द्र और हमीद के सामने कहता है, "हिन्दुत्व कोई मजहब और धर्म-विश्वास नहीं है। वह एक समाज और संस्कृति है। उसमें विश्वासों के बंधन नहीं, व्यवहार के बंधन हैं। आप भगवान में विश्वास करें तो हिन्दू, विश्वास न करें तो भी अपने आपको हिन्दू कह सकते हैं। आप चाहे जैसे भगवान में, साकार में या निराकार में, एक ही भगवान में या अनेक भगवानों में विश्वास कर सकते हैं। अवतार में विश्वास कीजिए या न कीजिए। ब्रह्म, जीव और माया को एक मानिये या पृथक्-पृथक्। पुनर्जन्म को भी मानने न मानने की स्वतन्त्रता है। बन्धन केवल खान-पान और विवाह के नियमों के हैं, चिंतन की स्वतन्त्रता है, व्यवहार की नहीं। इस्लाम ऐसी स्वतन्त्रता सहन नहीं कर सकता। इस्लाम चिन्तन का नहीं विश्वास का मार्ग है। आप खुदा से मुनकिर नहीं हो सकते। आप खुदा से मुनकिर हैं तो आप काफिर हैं।" इस भाग में इस तरह के विचार-प्रवाह भी अधिक नहीं हैं और वे परिस्थितियों से उपजे हुए हैं। ऊपर वाला प्रसंग तारा को हाफिज जी के यहाँ याद आता है, जहाँ एक कट्टर मुस्लिम धार्मिक नेता के घर वह इस्लाम स्वीकार करने-न करने के असमंजस में स्मरण आता है और वह चिन्तन का एक तुलनात्मक आधार भी प्रदान करता है। इस भाग में राजनीति पर या राजनीतिक विचारधाराओं पर अधिक फब्तियाँ न तो कसी गई हैं और न उस पर अनावश्यक टीका-टिप्पणी ही की गई है। यही कारण है कि यह भाग अत्यन्त सतुलित है और कहीं भी आरोपित या बोझिल नहीं प्रतीत

होना। हिन्दू-मुस्लिम समस्या से सम्बन्धित भी कदाचित् दो ही प्रसंग आए हैं, जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है। वास्तव में यह भाग कलात्मक रूप से इतना सुसंगठित है तथा परिस्थितियों एवं घटना-चक्रों की उग्रता तथा प्रवाह इतने स्वाभाविक रूप से गतिशील हैं कि कहीं भी कोई अवरोध उपस्थित नहीं होता।

इसके विपरीत दूसरे भाग में यशपाल की राजनीतिक प्रतिबद्धता अधिक मुखर हुई है। गांधीवाद और गांधी जी की जिस प्रकार खिल्ली इस अंश में उड़ाई गई है, वह किशोर-सुलभ है। न तो उसमें वैचारिक परिपक्वता है, और न कोई सुनिश्चित तार्किक आधार, सिवाय इसके कि यशपाल अपने साम्यवादी विश्वासों के कारण विवश थे। यही कारण है कि यह भाग विचारधारा की दृष्टि से बहुत सन्तुलित नहीं बन पाया है और ऐतिहासिक व्यक्तियों तथा विभिन्न राजनीतिक मतों पर अनावश्यक छींटाकशी और प्रसंग से बाहर इतिवृत्तात्मकता प्राप्त होती है।

'झूठा-सच' के शिल्प का जहाँ तक सवाल है इसमें कोई शक नहीं कि यशपाल ने एक विशाल चित्रफलक का निर्माण किया है और पूरा एक युग, जो हमारे इतिहास का सर्वाधिक संक्रान्तिकालीन युग है, सजीवन एवं मूर्तमान करने में कोई कसर शेष नहीं रखी है। उनका कैमरा गलियों, तंग कोठरियों, शहरों, बदनाम अड्डों, व्यक्तियों और शिविरों तक इतनी तेज़ी से घूमता है कि सारा दृश्य हमारे सामने साकार हो उठता है। लेकिन इसकी सबसे बड़ी ट्रेजेडी यह है कि यशपाल का कैमरा केवल बाह्य यथार्थ को ही पकड़ सकने में सफल हो सका है और वह भी बड़े सतही ढंग से। ऊपरी आवरण के भीतर उनका कैमरा झाँकने की कभी कोशिश नहीं करता, जिसके लिए तीक्ष्ण अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता थी और अधिक संतुलितदृष्टिकोण की भी। यही कारण है कि 'झूठा-सच' एक डाक्यूमेंटरी फिल्म तो बनकर रह जाती है, मानवीय विवशताओं, संकट बोध और ध्वस्त हो जाने वाले मूल्यों का सशक्त साक्षी नहीं। इसीलिए इसमें एकांगी दृष्टिकोण भी है और अपूर्णता भी। पूरे विभाजन के दौर में यशपाल को न कहीं मूल्यों की टकराहट लक्षित हुई और न बदल गए जीवन के प्रतिमान, जिन्होंने उत्तर भारतीय जीवन का सारा नक्शा ही उलट-फेर कर दिया। उन्हें केवल नारी पर अत्याचार और शोषण वह भी मात्र सेक्स के सन्दर्भ में—विभाजन का जबर्दस्त परिणाम जो दोनों भागों में बार-बार अनेक रूपों में दुहराया गया है। उनका सेक्स के प्रति यह शिथिल दृष्टिकोण जाने क्यों उन्हें मोहग्रस्त किए हुए है, जिसका चरम रूप उनके नवीनतम उपन्यास 'क्यों फंसे ?' में लक्षित होता है।

पर इन सब सीमाओं के बावजूद 'झूठा-सच' हिन्दी उपन्यास की एक उपलब्धि

के रूप में स्वीकारा जाएगा क्योंकि यशपाल ने जिस विशाल चित्रफलक का निर्माण इस उपन्यास मे किया है, वह हिन्दी की दृष्टि से अभी तक अछूता रहा है। जीवन के विविध रंग, विभिन्न लोग और उनके अलग-अलग व्यक्तित्व-दृष्टिकोण, जिस प्रकार इसकी विशदता मे रंग भरते है, वह अपने आप में एक महत्वपूर्ण बात है।

दिशाहीनता की पहचान : 'अमृत और विष'

'बूंद और समुद्र' (१९५६ ई०) के बाद श्री अमृतलाल नागर का यह दूसरा ख्याति-प्राप्त उपन्यास है। स्वयं लेखक के अनुसार एक बृहत् उपन्यास लिखने की योजना उसके मन में १९६१ में आई थी। किन्तु १९६३ के अन्त में उपन्यास अपने प्रस्तुत रूप में प्रस्फुटित होने लगा और अक्टूबर, १९६५ में यह पूरा हुआ। उपन्यास का नामकरण, 'अमृत और विष', हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि श्री सुमित्रा-नन्दन पन्त ने किया।

नागर जी का 'बूंद और समुद्र' (१९५६ ई०) काफी लोकप्रिय हो चुका है। कोई भी नई कृति जब आती है तो उसके सम्बन्ध में काफ़ी शोर मच जाता है। ऐसे शोर-शराबे में उसका सही-सही मूल्यांकन नहीं हो पाता। 'अमृत और विष' का प्रकाशन हो जाने पर अब नागर जी के दोनों उपन्यासों के तुलनात्मक अध्ययन और पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता है। 'बूंद और समुद्र' में जिन स्थितियों को लिया गया था, वे इतनी परिचित थीं कि उनसे किसी प्रकार की नवीनता लक्षित नहीं होती। शिल्प के स्तर पर भी उसमें कोई नवीनता नहीं थी। एक प्रकार से प्रेमचन्द-शैली की उसमें पुनरावृत्ति थी। वही स्थूलता, पात्रों के व्यक्तित्व का वही एकांगी रूप और आदर्श का वही आरोपण। जिस संक्रान्ति-काल में 'बूंद और समुद्र' की रचना हुई और कथानक के लिए जो समय चुना गया था, उसमें वैचारिक द्वन्द्व और आत्म-संघर्ष की बहुत सम्भावनाएँ थीं। किन्तु नागर जी ने उनकी उपेक्षा की। आलोच्य उपन्यास 'अमृत और विष'[1] में एक प्रौढ़ कलाकार की भाँति उन्होंने वैचारिक द्वन्द्व और आत्म-संघर्ष का समुचित उपयोग ही नहीं किया है, वरन् इसमें उनकी दृष्टि में नवीनता और ताजगी नज़र आती है। यह उपन्यास निस्सन्देह नागर जी की उपन्यास-कला का बढ़ा हुआ चरण या अगला सोपान माना जाना चाहिए।

नागर जी का यह उपन्यास अपनी एक विशेषता रखता है। और, वह यह है

---

1 अमृतलाल नागर : 'अमृत और विष' (१९६६) लोकभारती इलाहाबाद

कि इसमें उपन्यास के भीतर उपन्यास है। शिल्प की दृष्टि से यह प्रयोग असामान्य है। एक उपन्यास तो आत्मकथात्मक है, जिसमें उपन्यासकार ने अरविन्दशंकर के रूप मे स्वयं अपने उपन्यासकार की कल्पना की है। इसमें उन्नीस अध्याय हैं और अन्त में उपसंहार के रूप में अरविन्दशंकर का चिन्तन है। इस अंश का उस दृष्टि से तो महत्त्व है ही, जिसका मैं आगे चलकर उल्लेख करूँगा, किन्तु इस अंश से नागर जी के औपन्यासिक शिल्प, भाषा, धर्म, राजनीति, प्रेम आदि से सम्बन्धित मान्यताओं का भी अच्छा परिचय मिलता है। उनकी अन्य रचनाओं का अध्ययन करते समय इन अंशों का अच्छा उपयोग किया जा सकता है।

दूसरा उपन्यास वह है, जिसके लिए अरविन्दशंकर पद्मनाभ प्रकाशक से एक उपन्यास लिख कर देने के लिये प्रतिश्रुत ही नहीं हो चुका, वरन् डेढ़ वर्ष से दो हजार रुपए भी लिए बैठा है, किन्तु जिसे वह अभी लिखकर नहीं दे सका। षष्ठिपूर्ति समारोह के समय उसे भय है कि वह प्रकाशक कहीं भण्डाफोड़ न कर दे और नोटिस भेजकर कहीं उसकी नाक न रगड़वा दे। जमीन के मामले में सेठ हरयालदास पर दावा ठोकने के लिए अरविन्दशंकर ने उस प्रकाशक को उपन्यास देने का वचन देकर दो हज़ार रुपए मँगवाए थे। कर्त्तव्य-भावना से प्रेरित होकर वह उपन्यास लिखने बैठ गया। प्रश्न प्लॉट का था। एक बारात की बहुत भारी शोभा-यात्रा के जुलूस के समय स्वतन्त्र भारत के दो नवयुवकों को शादी के प्रबन्ध की चिन्ताओं से कुंठित होते देखकर अरविन्दशंकर के मन में यह स्पष्ट हो गया कि प्रकाशक को दिए जाने वाले उपन्यास में प्रमुख उद्देश्य होगा 'नौजवानों की आशाओं-आकांक्षाओं और कुंठाओं को चित्रित करना', क्योंकि आखिर आने वाली दुनिया है तो उन्हीं की। उपन्यासकार अरविन्दशंकर यह निश्चित कर लेता है कि 'मेरे जीवन भर के अनुभव-सिद्ध औपन्यासिक संस्कारों को इन नवयुवक पात्रों के सहारे अपने-आप युग-कथा में प्रवेश पाने दो'। दूसरे उपन्यास का यही विषय है। वह वर्तमान युवक-आन्दोलन से सम्बन्धित है। इस उपन्यास के सत्तावन अध्याय हैं। आत्मकथात्मक रूप में अरविन्दशंकर अपने जीवन की परिस्थितियों, अपने परिवार और मित्रों का उल्लेख करता है। इसी में से ऐसे पात्रों का प्रक्षेपण होता है जिनके आधार पर वह अपने उपन्यास की कथा परिकल्पित कर लेता है। यथार्थ के प्रतीक होते हुए भी उसके पात्र काल्पनिक हैं। एक औपन्यासिक कथा में से दूसरी कथा इस खूबी से, सहज-स्वाभाविक ढंग से फूट पड़ती है कि कहीं भी व्यतिक्रम दृष्टिगोचर नहीं होता। काल्पनिक होते हुए भी पात्र यथार्थता का आभास देते हैं। यथार्थता ही इस कथा-प्रयोग की सफलता का चिन्ह है। इतना ही नहीं, नागर जी ने अपने जीवन में आए हुए कुछ व्यक्तियों की स्मृति भी पात्रों का चरित्रांकन करते समय उन पर आरोपित की है। कहीं बाहर से पात्रों की परिकल्पना नहीं की। इसलिए उपन्यास में अनेक स्थलों पर संस्मरणात्मकता भी

आ गई है। अपने जीवन की कथा, उससे अंगांगी भाव से गुँथी हुई औपन्यासिक गाथा और इन दोनों के पीछे कथा कहने की नागर जी की अपनी शैली, इन तीनों के समन्वय से उपन्यास में एक विचित्र ताज़गी आ गई है। सारे उपन्यास मे कथा-प्रवाह, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन और भाषा-प्रयोग से वास्तविकता का आभास होता है और साथ ही लेखक और पाठक के साथ तादात्म्य उपस्थित होता है।

यदि दूसरे उपन्यास में स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद पुरानी और तरुण पीढी का संघर्ष, पुराने मूल्यों का विघटन, ढोंग, आडम्बर आदि का चित्रण और तरुण वर्ग का दुनिया को नई दृष्टि से देखने के प्रयास का चित्रण हुआ है, तो आत्म-कथात्मक अंश में अरविन्दशंकर विक्टोरिया के राज से लेकर स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय तक एक विहंगम दृष्टि डालता हुआ तत्कालीन राजनीति, संस्कृति, अर्थ-नीति, जीवन के मूल्यों और नैतिक आदर्शों और विभिन्न वर्गों के उत्थान-पतन की ओर संकेत करता है। 'इस अपनी डायरी और उपन्यास में मेरे पड़बाबा और उनके बाबा तक के ज़माने से लेकर अपने ज़माने तक की न जाने कितनी परिस्थितियाँ, कितने चरित्र एक बार फिर से जी उठे और फिर उसी अनुभव, विचार और कल्पना-शक्ति से न जाने कितनी परिस्थितियाँ, चरित्र और चित्र, गढ़ते चले गये। इन सबके साथ समरस और बहुधा समभाव होकर मैंने···।' कथानक अरविन्दशंकर के षष्ठिपूर्ति समारोह के आयोजन से प्रारम्भ होता है। आई० ए० एस० पदाकांक्षी पुत्र उमेश के सुझाव पर आयोजित षष्ठिपूर्ति समारोह के अवसर पर अरविन्दशंकर दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक हो जाता है। 'साठ वर्ष इस दुनिया में बिता दिये— अनुभवों का जुलूस दिल्ली मे निकलने वाले गणतन्त्र दिवस के रंगारंग दृश्यों की भाँति अविराम गति से चल पड़ा। एक विशाल केनवस पर एक साथ अनगिनत चित्र उभर पड़े···विविध अनुभवों-भरे सारे जीवन ने एकाएक धावा बोलकर मेरे ध्यान का साम्राज्य जीत लिया।···सोचता हूँ अपनी जीवन-कहानी लिख डालूँ। जनम-भर उपन्यास और कहानियों में दूसरों के देखे-सुने और अपने गढ़े हुए किस्से लिखे, एक अपना भी लिखकर रख जाऊँ।···आत्म-कथा के संक्षिप्त नोट्स लिखते-लिखते सम्भव है मेरी सरस्वती फिर से जाग उठे और उपन्यास भी आरम्भ हो जाय (सरस्वती जगी और उपन्यास भी शुरू हो गया) बहरहाल आज से कुछ-न-कुछ लिखूँगा अवश्य—आत्मकथा, डायरी, उपन्यास। यह आत्मकथा, डायरी, उपन्यास भारत के एक मध्यवर्गीय लेखक की टूटती जिन्दगी की कहानी है। अरविन्दशंकर का सम्मान तो होता है, किन्तु वह सांसारिक चिन्ताओं से मुक्त नहीं होता। सरकार-विरोधी भाषण सुनकर पुत्र उमेश के घर छोड़कर चले जाने से वह और भी दुःखी हो जाता है। अपने को अपनी पत्नी माया को तसल्ली देते हुए भी उसका दम फूल आता है सोचता

है—'झूठ की मंज़िल तक अपने अस्तित्व को नाथकर घसीटता हुआ मैं ले तो आया, परन्तु सारा श्रम और उत्साह निरर्थक और बेदम हो गया। मन कहने लगा, झूठ है। अब तुम थक गये हो, प्राणहीन हो गये हो, कुछ कर न पाओगे। मुझे लगा कि मेरी अनन्त कुंठाओं को समाप्त करने का केवल एक ही उपाय है, वही जो मेरे पिता ने किया था—आत्महत्या।' अरविन्दशंकर की यह 'अनन्त कुण्ठा' आज प्रत्येक मध्यवर्गीय लेखक की है। स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाने पर भी कोई अन्तर नहीं पड़ा। "क्या मेरा आन्तरिक जीवन इतना कुण्ठित नहीं? क्यों न पिता की लीक पर चलकर मैं भी संखिया या अन्य कोई विष खा लूँ? यह झूठा आशावाद, यह नवजीवन की प्रतीक्षा अब कब तक करूँ। सारा जीवन यों ही मन बहलाते-बुझाते बीत गया।·· बस एक बचपन ही का आलम था जब कि मैंने बेफिक्री के मज़े पाये थे।···अपने बचपन के वे शान्त एकान्त, आनन्दमग्न दिन फिर मुझे कभी नहीं मिले। एक बात यह भी अच्छी तरह से याद है, कि पढ़ने-लिखने से मैंने एक दिन के लिए भी कभी जी नहीं चुराया।···काम सदा खेल के समान ही लगा। लेकिन इधर दो-ढाई वर्षों से वही प्रवृत्ति मेरे अन्दर से चली गयी है। मुझे अब कुछ भी करना अच्छा नहीं लगता है···'कहिबो न कछू करिबो न कछू···मरिवो ही रह्यो है।' लगता है सारा जीवन खोखला हो गया न कुछ दिया न लिया। ये सैंतीस-अड़तीस छोटी-बड़ी किताबें जिन्हें मैंने पूरी निष्ठा और तन्मयता के साथ रचा, अब मुझे बेकार का श्रम मालूम पड़ती हैं। जीवन-भर देश-प्रेम, मानवता, सत्य, न्याय और ईमानदारी को ही भला समझता और समझाता रहा, पर अब ये सब बातें निस्सार लगती हैं···।" अरविन्दशंकर जेल भी गया, किन्तु स्वतन्त्रता मिलने पर उसका कोई कार्य सिद्ध न हुआ। उलटे झूठे और फरेबी लोग देशभक्त माने जाने लगे और सच्चे देशभक्त और प्रगति की आकांक्षा रखने वाले अरविन्दशंकर जैसे लोग 'कम्युनिस्ट' और 'नास्तिक' समझे जाने लगे। भारतीय लेखक वर्ग के प्रतिनिधि अरविन्दशंकर में उदासी, मुर्दनी, आत्मविश्वास की कमी और घुटन व्याप्त हो जाती है।

ऐसी मानसिक अवस्था में ही हेमिंग्वे कृत 'बूढ़ा मछेरा और समुद्र' का बूढ़ा मछेरा उसकी बहिर्चेतना पर छा जाता है, जिसे चौरासी दिन लगातार श्रम करने के बाद भी तकदीर ने एक मछली का शिकार तक न दिया, जो अभागा समझा जाता था, जिसके पैबन्द टंके पुराने पाल 'स्थायी पराजय के झंडे' की तरह फरफरा रहे थे। किन्तु बूढ़े मछेरे की तरह बाहरी परिस्थितियों से हर तरह टूटने और हार जाने पर भी अरविन्दशंकर भीतर से न टूटता है, न हारता है। कुंठा से दिग्भ्रमित होने पर भी उसमें दृढ़ता बनी रहती है। यदि बूढ़ा मछेरा अपने कड़े-कांटे-हार्पून सम्भालता है तो बूढ़ा लेखक अपनी लेखनी सम्भालता है। अरविन्द-शंकर को एसी एक नई स्फूर्ति मिलती है जिससे उसकी सारी मानसिक

चमत्कारी रूप में सम्हल जाती है। आज का लेखक जूझता है जीवन की विषम परिस्थितियों से, अपनी पराजयों से, सड़ी गली रूढ़ियों और विघटित होते हुए मूल्यों से। इतिहास-विधाता ने उसके कंधे पर जो जूआ रख दिया है, उसे वह सहर्ष झेलता चला आ रहा है। तब भी अरविन्दशंकर आत्मविश्वास बटोरता है। 'हेमिंग्वे का औपन्यासिक नायक, बूढ़ा मछेरा अपनी ड्यूटी पूरी-पूरी बजाकर अब फुरसत पा रहा है।···लेकिन मैं अभागा क्यों ? मुझे तो काम पूरा करने से आस्था मिली है, मेरी सृजन-शक्ति और उसकी क्रीड़ा का सहज उल्लास अब तक ताज़ा और तेजवान है। अभी मैं अपने मानस को और ऊँचे नैतिक वैचारिक सौन्दर्य के स्तर पर गति देने का साहस करसकता हूँ···।' अरविन्दशंकर ने यद्यपि एक स्थान पर कहा है : 'तन के ठेले पर लदा हुआ यह जीवन क्या भारी बोझ खींचते-खींचते मेरे प्राणों का भूखा अशक्त भैंसा अब बेदम होकर जेठ की चिलचिलाती धूप में तपती हुई सड़क पर गिर पड़ा है,' तो भी उसके व्यक्तित्व का महत्त्व महज पड़े रहने में नहीं है। उसकी जीवन्त शक्ति का परिचय ऊपर के शब्दों द्वारा व्यक्त होता है अथवा जब वह अन्त में कहता है : '···विश्राम करूँ या मर जाऊँ ? तब तो मै हेमिंग्वे के बूढ़े मछेरे से हार जाऊँगा। जड़-चेतनमय, विष-अमृतमय, अँधकार-प्रकाशमय जीवन में न्याय के लिए कर्म करना ही गति है। मुझे जीना ही होगा, कर्म करना ही होगा। यह बन्धन ही मेरी मुक्ति भी है। इस अन्धकार ही में प्रकाश पाने के लिए मुझे जीना है। इस समय भी मेरे दो जीवनाधार तो है ही—धुर बचपन में मुझे ढकेल कर अपने साथ दौड़ाता ले चलने वाला मेरा अनन्य साथी बछड़ा, और दूसरा वह औपन्यासिक नायक मछेरा।' चारों ओर फैली पूँजीवादी सड़ांद, अवसरवादिता, रूढ़िवादिता, दम्भ और पाखंड के बीच उत्तेजित खीझभरा और थका-हारा अरविन्दशंकर यदि अशक्त भैंसे की भाँति जेठ की चिलचिलाती धूप में गिरा पड़ा रहता तो न केवल वह स्वयं मिट्टी का घरौंदा सिद्ध होता वरन् लेखक वर्ग के मुँह पर भी कालिख पोत देता। किन्तु वह ऐसा नहीं है। होरी की भाँति वह हमें यही कहने के लिए बाध्य करता है—'कौन कहता है वह जीवन संग्राम में हारा है···।' (गोदान)। व्यक्तिगत स्तर पर ही नहीं, समष्टिगत स्तर पर भी अरविन्दशंकर नीलकंठत्व व्यक्त करता है। यह उसकी बहुत बड़ी देन है। 'तमसो मा ज्योतिर्गमय···। सत्यः श्रमाभ्याम् सकलार्थसिद्धिः। इस आधार पर टिके हुए आत्मविश्वास का नाम ही ईश्वर है—और वह ईश्वर मेरे साथ है।'—अरविन्दशकर

अरविन्दशकर परिवार और समाज दोनों मोर्चों पर लड़ता है। वह एक मध्यवर्गीय गृहस्थ है, उसका जीवन सन्तोषप्रद नहीं है। उसे अपने परिवार के सम्बन्ध में निराशापूर्ण [illegible] लेनी पड़ती हैं बाह्य परिस्थितियों पर काबू पाने की सामर्थ्य उसमें नहीं है बाहर से वह जर्जरित हो उठता है किन्तु

उसका बड़प्पन, उसकी महानता और लेखकोचित गरिमा इस बात में है कि बाहर से टूटते हुए भी वह भीतर से नहीं टूटता। साहस बटोरकर वह कर्मरत रहना चाहता है। वह भैंसा नहीं बना, इसी में उसकी गत्यात्मकता (dynamism) है। हिन्दी उपन्यासों में नायक परिस्थितियों से जूझता है, किन्तु अन्त में खोया हुआ, दिग्भ्रमित, टूटा हुआ चित्रित किया जाता है। टूटना और टूटने चले जाना उसका जीवन-धर्म और 'आधुनिकता' का प्रतीक बन जाता है। इससे न तो वह अपना कल्याण कर पाता है और न समाज का। लोग समझते हैं आज के विघटित होते हुए समाज में खो जाना ही आधुनिक कर्म है। कितना गलत दृष्टिकोण ये उपन्यास लेखक देते रहे हैं। मेरा विचार है कि लेखक और कलाकार जहाँ समाज के बिखराव का चित्रण करता है, वहाँ अपने और समाज के बीच सन्तुलन बनाए रखते हुए समाज के प्रति सर्जनात्मक प्रतिबद्धता का निर्वाह करना भी उसका पुनीत कर्तव्य है। सुरेश सिनहा कृत 'सुबह अँधेरे पथ पर' जैसे उपन्यास हिन्दी में कम ही दृष्टिगोचर होते हैं जिनमें नायक भीतर से नहीं टूटता। भीतर से टूट जाना ही वास्तविक पराजय है। नागरजी का अरविन्दशंकर भीतर से कहाँ टूटता है? जीवन की अग्नि-परीक्षा में वह उत्तीर्ण होता है। अरविन्दशंकर भैंसा नहीं, आग में तपा हुआ सोना है। उन्होंने उसके व्यक्तित्व में चार चाँद लगा दिए हैं। उनकी सशक्त लेखनी से प्रसूत अरविन्दशंकर जैसे संजीवनी शक्ति लिए हुए व्यक्तित्वों की आज समाज में आवश्यकता है। क्या भारतीय और विशेषतः हिन्दी के मध्यवर्गीय या निम्न मध्यवर्गीय लेखकों के लिए अरविन्दशंकर प्रेरणा-स्रोत नहीं बन सकता? नागरजी का दिशा-संकेत स्तुत्य है। सब कुछ गँवा देने के बावजूद, यहाँ तक कि भूख, बीमारी और मृत्यु के बावजूद, नागरजी की दृष्टि में जीवन वरणीय है, हेय और उपेक्षणीय नहीं। उसमें जिजीविषा है। बावजूद अपमान, अभाव और कष्ट के उसका व्यक्ति अन्दर से बढ़ता है, उसके पास जीने के लिए 'कुछ' बना रहता है। जीवन अर्थपूर्ण है। वह सिगरेट के टुकड़े की तरह नाली में फेंक देने के लिए नहीं है। अन्धकार में प्रकाश पाने के लिए ही तो अरविन्दशंकर जीना चाहता है। इससे अधिक और क्या चाहिए?

आत्मकथात्मक अंश में अरविन्दशंकर के पुरखों का इतिहास भी एक महत्त्वपूर्ण अंश है—ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार 'उसने कहा था' कहानी में उसका प्रारम्भिक भूमिका भाग। यह अंश न केवल अंग्रेजी शासनकाल की स्थापना से लेकर स्वतन्त्रता की प्राप्ति के समय तक के भारत को वामन के तीन पगों की तरह नाप लेती है, वरन् वह कई पीढ़ियों को नैरन्तर्य प्रदान करती है। अत्यन्त सुन्दर और रोचक ढंग से नागरजी ने पिछले सौ-डेढ़ सौ वर्षों के बदलते हुए आदर्शों और मूल्यों पर दृष्टिपात किया है और इस बात की ओर संकेत किया है कि स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद मूल्यों का अर्जन हवा में नहीं हुआ

अथवा वे किसी उद्देश्यहीन और दिशाहीन जीवन की बेढंगी उपज नहीं है, वरन् पिछले सौ-डेढ़-सौ वर्षों से चले आ रहे आदर्शों और मूल्यों की शृंखला में एक और कड़ी है। इस अंश में अरविन्दशंकर का केवल वंश-वृक्ष ढूँढ़ना उपहासास्पद होगा। उसका महत्त्व तो सांस्कृतिक मूल्यगत है।

अरविन्दशंकर के पूर्वजों का इतिहास उस समय से प्रारम्भ होता है, जबकि ईस्ट इण्डिया का शासन-काल समाप्त हो चुका था और महारानी विक्टोरिया भारत की सम्राज्ञी घोषित हो चुकी थीं। उस समय उन्नीसवीं सदी बूढ़ी हो चली थी, बूढ़ा भारत देश की गुलामी की नयी और कठिन बेड़ियों से जकड़कर भी जवान हो रहा था (नवोत्थान)। एक नयी राह पर दौड़ रहा था। 'लोहे की सड़कों' और 'धुआँ गाड़ियों' से न केवल भारत में वैज्ञानिक युग की अवतारणा का संकेत मिलता है, वरन उससे औद्योगीकरण के बीजारोपण का भी पता चलता है। साथ ही चौपहियों, ऊँटगाड़ियों, शिकरमों और घोड़ा गाडियों का अस्तित्व देश के सन्धिस्थल पर खड़े होने की ओर इशारा करता है। फकीर मुहम्मद राधेलाल फर्म की स्थापना भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना के इतिहास के अनुकूल है। वास्तव में यह अंश एक ऐतिहासिक दृष्टि प्रदान करता है जो न केवल इस आत्मकथात्मक अंश की दृष्टि से, वरन् दूसरे उपन्यास की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है।

शेख फकीरमुहम्मद और राधेलाल का परस्पर सम्बन्ध अंग्रेजों के भारतागमन के समय हिन्दू-मुस्लिम भाईचारे का अत्यन्त सुन्दर आदर्श प्रस्तुत करता है। शेखजी सूफी तबियत के आदमी थे। साधु-संन्यासी और शाह-फकीर दोनों प्रकार के सन्त उनके यहाँ आते थे। दिन-रात आध्यात्मिक चर्चा चला करती थी। उनका जी हिन्दुस्तानी भाइयों के साथ लगता था और वे हर घड़ी इंगिलशों की सूरतें देखना पसन्द न करते थे। हिन्दुस्तानियों के स्वतन्त्रता-प्रेम और अंग्रेजों से नफरत होने की ओर कितना सूक्ष्म संकेत है! शेखजी मुनीम गुपालदास से कहते हैं "हमारा तो ठिकाना येई हैगा भैया। यां अपनापन तो लगे है। वांपे तो सब लाल म्हो वाले फिरंगी आवें-जाँय है। और एक वो राँड की गोरे चाम वाली सुफेद हथनी पाली है राधे ने। वो बार-बार सलाम करै है वो मैं शरम के मारे पानी-पानी हो जाऊँ हूँ। इस कौम के अगाड़ी झुक के सलाम करना ही सीखा था, और वह भी नादिर-शादिर ही। सदा बचता ई रया इस कौम से। मैंने तो कह दीना राधे से कि तेराई जिगरा है भैया, तू निभा सके है। मै तो अपनी गद्दी पे ही ठहरूँगा।" इस कथन में आत्मसम्मान की कितनी भावना निहित है। अंग्रेजी के सामने पुराने मुनीमजी की कोई कदर न रह जाने के कारण उनके मन में भी रह-रहकर उबाल आता रहता है। अंग्रेजों के आने पर पुराने कारोबार के तरीके बदल गए। इसके एक सम्पन्न साहूकार परिवार का वैष्णव या विला

यती व्यौपाराना उसने खूब समझ रखा था। पहलवानी के शौक के कारण राधेलाल और दीन मोहम्मद में गहरी दोस्ती हो गई। दीन मोहम्मद के भाई होने के कारण शेख फकीर मुहम्मद और राधेलाल में भी भाईचारा स्थापित हुआ। १८५७ के सिपाही विद्रोह में राधेलाल ने अंग्रेजो की सहायता की थी। राधेलाल के बेकार हो जाने पर शेख फकीर मुहम्मद ने उनसे जो कुछ कहा उससे अंग्रेज़ों की आर्थिक नीति पर बड़ा अच्छा प्रकाश पड़ता है ''ज़मींदारी में पता नहीं ये अंग्रेज हमारे जीने की खातिर कुछ गुंजाइश रक्खेंगे भी या नहीं, कुछ समझ में नहीं आवे हैगा। आबपाशी की दरें भी सुना है बढ़नेवाली हैं। लगान वसूल करने मे जो सख्तियाँ बरती जावे हैं, वो अब बर्दाश्त के बाहर होती जा रही है।'''कभी-कभी तो लगान में बढ़ायी गई रकम गाँव की पैदावार से भी ज्यादा हो जावे है। महकमा जगलात ज़मीनों को दनादन हड़प रया हैगा। चरागाहों को भी नहीं छोड़ते। जानवर भूखों मरे है। किसान ज़मीनें छोड़-छोड़ के भाग रहे हैं। अकाल बार-बार न पड़ेंगे तो और भला क्या होगा।' इसीके साथ जोड़ लीजिए राधेलाल के अंग्रेज-परस्त होने के कारण। इससे राधेलाल की व्यापार-कुशलता और दूरदर्शिता भी भली भाँति प्रदर्शित होती है : ''उन्हें यह विश्वास हो गया था कि जो कारबार अंग्रेज़ी ढंग पर और अंग्रेज़ो की संरक्षता में चलेगा वही फलफूल भी सकेगा, बाकी सारे धन्धे मिट जायेंगे। वे जानते थे कि रेलों का जाल तेजी से बिछ रहा है और अगले आठ-दस बरसों के भीतर ही किरांचियाँ लादने का सदियों पुराना धन्धा समाप्त हो जायगा। वो यह भी जानते थे कि बंगाल बैंक की शाखाएँ नगर-नगर मे खुलते ही यहाँ के साहूकारों का धन्धा भी कम रह जायेगा।…'' सद्दीमल के कथनानुसार भी ''…ज़माना बड़ा बुरा आय लगा हैगा। सरकार ने पारसाल से आमदनी में भी टिक्कस बाँध दिया हैगा। ससुरी लूट की भी हद होती है। अपनी बिलायत को सोने की लंका बनाय रहे हैंगे। अमीर यों मरे और गरीब—क्या कहे। रुपै में से भी चाँदी ससुरी रुपै तोले से नीचे गिर गई है। छोटे-मँझोले सौदा-गर-दुकानदार टें बोल गये है बिचारे। उनका धन्धा तो कुछ सोने पै नहीं, चाँदी से ही होत रहा न ! और जब रुपै का माल दस-ग्यारा आने का ही रह गया तो बताओ कोई आदमी नये धन्धे में अपना रुपैया कैसे फँसावै।'' पुरानी के स्थान पर नई आर्थिक व्यवस्था की ओर कैसा अच्छा संकेत है। उन्नीसवीं शताब्दी के आर्थिक जीवन का नक्शा आँखों के सामने नाच उठता है।

ऐसे माहौल में रहते हुए राधेलाल तो अपनी 'होशियारी' दिखाए बिना नहीं रहते। लेकिन शेख फकीर मुहम्मद अपना आदर्श नहीं छोड़ते। गरीबों को वे अंग्रेजों की तरह सताना नहीं चाहते। अंग्रेजों के रंग-ढंग अपनाना वे अपने लिए मुनासिब नहीं समझते। उनकी मानवता बहुत ऊँचे दर्जे की थी। राधेलाल जब उनका रुपया उनके सामने भेजता है तो शेखजी का कुछ देर तक बोल न फूटा फिर कहा—''ये

काले नाग थैलियों में भर-भर के राधे ने मुझे डसने के लिए भेजे हैं।" उनका अन्तिम वाक्य तो हृदयबेधी है : "मैंने समझा था मेरा दीन मुहम्मद है पर ये राधे निकला।" शेख फकीर मुहम्मद उस सांस्कृतिक समन्वय का प्रतीक है, जिसकी चर्चा आत्मकथात्मक अंश के पन्द्रहवें परिच्छेद में या फिर अरविन्दशंकर द्वारा लिखित उपन्यास के ५३वें परिच्छेद में नवाबसाहब के कथन में हुई है। हिन्दू-मुसलमान एक थे। राधेलाल के वंशज विलासप्रिय निकले। उस समय के व्यापारी वर्ग की विलासिता वैसी ही थी जैसी लाला श्रीनिवासदास के 'परीक्षा-गुरु' में मिलती है।

अरविन्दशंकर के पूर्वजों का काल सक्रान्ति काल था। आर्थिक व्यवस्था के परिवर्तन होने के साथ-साथ नई शिक्षा प्रणाली भी जारी हो गई थी। जो जमाने के साथ चले उन्होंने लाभ उठाया। कट्टरपंथी लोग कहीं के न रहे। सदानन्द के शब्दों में "घनश्याम महाराज का बेटा बुरा निकला तो कइयों के सुधर भी गये। अंग्रेजी पढ़े बिना तरक्की भी कहाँ धरी हैगी आजकल। इलाहाबाद के मदनमोहन मालवीय को देखो। यहाँ नवाबों तक के दुइ-चार लड़के अंग्रेज़ी पढ़ के आला-हाकिम बन गये। जो नहीं पढ़ा रहे उनके लड़के बटेर बने डोल रहे हैं साले। नया ज़माना उनके जैसों के मते तो चलेगा नहीं। मैंने पढ़ने-लिखने से जी चुराके क्या अंज़ाम पाया...।"

जीर्ण-शीर्ण उन्नीसवीं शताब्दी के समाप्त होते-होते अरविन्दशंकर के पुरखो का वृत्तान्त भी समाप्त हो जाता है। इस अंश मे उन्नीसवीं शताब्दी के लगभग सभी महत्त्वपूर्ण पक्ष आ जाते हैं। और सदानन्द जिस नए जमाने की बात करता है, उसी नए ज़माने का आधुनिक संस्करण दूसरे उपन्यास का तरुण वर्ग है और इस प्रकार पुराने-नए की शृंखला टूटती नजर नहीं आती।

पुरखों के वृत्तान्त के बाद ही अरविन्द के माध्यम से हिन्दी लेखक की दयनीय स्थिति का ज्ञान प्राप्त होता है। एक भारतीय लेखक और वह भी हिन्दी का लेखक कौड़ियों के मोल भी नहीं गिना जाता। साहित्यकार से मानवता, आदर्श और साधना की आशा की जाती है। लेखक भी बेचारा पेट पिचकाए अनवरत साहित्य-साधना में लीन रहता और एक हवाई दुनिया में अपने विचारों की शक्ति को कार्यरूप में परिणत होते देखता और ख्याली पुलाव पकाता रहता है। किन्तु जिनके हाथ में राजनीतिक शक्ति है, जो अपने को राष्ट्रनिर्माता कहते हैं वे लेखकों और कवियों की तरफ आँख उठाकर भी नहीं देखते। इस काम के लिए उन्हें फुर्सत नहीं। जो अरविन्दशंकर का हाल था, वही हिन्दी के प्रत्येक लेखक का हाल है। उसमें हीनता, घुटन, ग्लानि आदि की भावनाएँ भर जाती हैं। शुरू में उसने भावावेश में आकर लिखा फिर महत्त्वाकांक्षा से प्रेरित होकर लिखा तो भी अन्त मे परिवार के भरण-पोषण की समस्या बनी रही र का लिखा हुआ

एक अक्षर भी न पढ़ने पर लोग उसकी तारीफ़ के पुल बाँध कर चले गए और डिमाक्रेसी के कर्णधारों के लिए वह शतरज का एक मोहरा बनकर रह जाता है। अपनी और अपने परिवार की स्थिति देखकर वह आत्मग्लानि से भर गया है। वह खीझ कर कह उठता है : "भाड़ में जाय मेरी जन्मशताब्दी। जहन्नुम मे जाय ये बेपेंदी की सरकार और इसके कर्णधार। इन्होंने चालीस करोड़ आदमियों को कुत्तों का-सा जीवन बिताने पर मजबूर कर रखा है। इन्होंने व्यक्ति का आत्माभिमान नष्ट कर रखा है। समारोह की प्रतिक्रिया उसपर स्वस्थ न हो सकी। उस सम्मान-मण्डित असम्मान से उसका सारा व्यक्तित्व ही झूठा और निरर्थक हो जाता है। पारिवारिक चिन्ताओं से वह मुक्त नहीं हो पाता और उसे लगता है जैसे उसका सारा श्रम और उत्साह निरर्थक हो गया है। क्या हिन्दी के लेखकों का आन्तरिक जीवन ऐसा ही कुंठित नहीं हो जाता। उसकी देशभक्ति भी कुछ काम न आई। उलटे लोग उसे 'कम्युनिस्ट' और 'नास्तिक' कहने लगे।

अपनी सन्तान को लेकर अरविन्दशंकर दुश्चिन्ताओं से घिरा रहता है। उसके सामने अन्तर्जातीय विवाह, विधवा विवाह, सरकारी नौकरी, साम्प्रदायिकता, स्वच्छन्द प्रेम, सेक्स, भाषा आदि की समस्याएँ आती है और एक बेटे की यशोगाथा के साथ दूसरे बेटे की कलंक-गाथा उसके प्राणों में अमृत और विष की तरह घुलती रहती हैं। भाग्य, पुनर्जन्म, धर्म, दर्शन आदि को लेकर अरविन्दशंकर चिन्तन करता है, किन्तु उसका यह चिन्तन-पक्ष दुर्बल है। जब वह कहता है : 'क्या मैं शकराचार्य के अद्वैत दर्शन के निकट पहुँच गया? शायद हाँ, शकर यही तो कहते है। अपने अब तक के जोड़े-बटोरे और कसौटी पर कसे ज्ञान-प्रकाश में हमने अपनी सारी क्रिया-चेतना को ठोस और प्रत्यक्ष माना है। वह माया है। प्रकाश मे भी अंधेरा है। वह अंधेरा वस्तुत: प्रकाश का अन्तर्निहित सत्य है, ठीक उसी तरह जैसे कि अन्धकार का अन्तर्निहित प्रकाश है। इस तरह प्रकाश भी माया है और इन दोनों में निहित वस्तु सत्य दो न होकर एक है।" अपने अवसाद के गहरी घुटन भरे क्षणों में ऊबकर वह अशरण-शरण दीनबन्धु जगन्नियन्ता के अस्तित्व को स्वीकार कर लेना चाहता है, किन्तु दर्शन और ब्रह्म का कोई और छोर उसके पल्ले नही पड़ता।

तो भी चारों तरफ से अपने को असहाय पाते हुए भी जीवनेच्छा अरविन्दशकर को नए चेतनास्तर पर लाने के लिए बराबर प्रेरित करती रहती है और वह अपने को बचाने की राह पाता है। उसमें भावुकता की लहर आती है, किन्तु वह आज के विद्रोहों और मानसिक विस्फोटों के युग के अनुकूल बौद्धिक समर्पण को ही श्रेष्ठ समझता है। वह अपनी इच्छाओं, आकांक्षाओं और आचार-व्यवहार को गति देना चाहता है। इसी में उसकी नैतिकता है। व्यक्ति होने के अतिरिक्त एक सामाजिक प्राणी के रूप में वह अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करना चाहता

है। वह 'इटलेक्चुअल हरमजदगी' में विश्वास नहीं करता है। सच्चा कर्मशील होने की उसमें लगन है इसीलिए वह लिखते रहना चाहता है, क्योंकि लिखने पर ही इच्छा की अदृश्यमान पंखुरियाँ प्रत्यक्ष होकर खिल उठती हैं।···कर्म ही हर अमूर्त सत्य की खरी कसौटी है। मूर्त होकर भी सत्य कर्म से मुक्त नहीं। "जीवन को अपनी इच्छानुसार जी न सकने पर भी अरविन्दशंकर पलायनवादी नहीं है, शुतुमुर्ग नहीं है। उपन्यास लिखकर उसे सन्तोष प्राप्त होता है। खरी खरी बातें स्वतन्त्र रूप से कहकर भारत के प्रति उसने अपना उत्तरदायित्व का निर्वाह किया है। औपन्यासिक नायक अभागे बूढ़े मछेरे की भाँति वह अपने को अभागा नहीं समझता। ऐसी आस्थापूर्ण और उल्लासपूर्ण मानसिक स्थिति में उमेश की आत्महत्या उसे फिर विचलित करती है। उसका ध्यान क्वांटम थ्योरी और माया की ओर जाता है, सांख्य से लेकर आधुनिक विज्ञान तक का वह अवगाहन करता है, भाग्य और पुनर्जन्म की बात सोचता है, दार्शनिक चिन्तन में लीन होता है, किन्तु इस घोर चिन्ता के समय भी वह व्यापक मानसिक क्षितिज पर अवतरित होता है। वह सोचता है : 'विश्वात्मा अब अपने-आपको नव नैतिक सौन्दर्य के धरातल पर उतार रहा है मनुष्य अन्तरिक्ष में उड़ने लगा है · फिर भी ये अफसर, नेता, मुनाफाखोर संकीर्ण स्वार्थो और मृत धार्मिकता के ठेकेदार, ये तमाम जड़ बंधन मौजूद है। वे मोह और लोभ-लिप्साएँ अब भी विद्यमान हैं जिनके कारण मेरे बच्चे को अपनी जान गँवानी पड़ी। इन अज्ञान के प्रतीकों से जूझे बिना ही रह जाऊँ, विश्राम करूँ या मर जाऊँ।' नहीं। अरविंदशंकर नवगति नवीन यथार्थ की खोज मे आस्था रखते हुए अपने को चेतन प्राणी समझते हुए जीवित रहने का सत्य भूल जाना नहीं चाहता। पुरानी चेतना की जगह नई चेतना जन्म लेगी, समाज की परिधियाँ विस्तृत होंगी। मनुष्य किसी का गुलाम बनकर बेचा नहीं जा सकता। दुनिया अब अपने पूर्व रूप से भिन्न हो चली है। अरविन्दशंकर नई दुनिया की पूर्ण आशा लिए जीवित रहना चाहता है। वह हारता नहीं है। कर्म ही उसकी गति है। निस्सन्देह अरविन्दशंकर के रूप में नागर जी ने जीवन्त शक्ति का साक्षात् उदाहरण प्रस्तुत किया है। अरविन्दशंकर अपनी मान्यता के अनुसार परिस्थितियों से ऊपर उठता है। उसका विश्वास है : 'लेखक को भूखा रखो तभी वह लिखेगा। मै समझता हूँ कि यह एकांगी हकीकत है। अनुभूति चाहे अभाव की हो या भाव की, चरम स्थिति में ही लेखक को सृजनात्मक स्फुरण मिल जाता है। सुख और दुःख दोनों ही स्थितियाँ अपने चरम बिन्दु पर पहुँचकर उसे अपने लिए चुनौती-सी लगने लगती हैं। मेरा काम ऐसा है जो सुख और दुःख से ऊपर उठकर ही होता है। मैं समझता हूँ कि मैं सुख और दुख से भी बड़ा हूँ।"

×　　　　×　　　　×

युद्ध हर मोच पर युद्ध किन्तु इसके लिए विवेक बुद्धि और शक्ति की आव

श्यकता। तरुण पीढ़ी से सम्बन्धित उपन्यास का यह मूल मंत्र है।

यह युद्ध है सड़ी-गली परम्पराओं, नौकरशाही, नेतागिरी, मुनाफाखोरी, मृत धार्मिकता और सामाजिक जीवन और सारे जड़ बन्धनों के विरुद्ध।

हाल ही में संसार के लगभग सभी देशों के तरुण विद्यार्थियों ने विद्रोह किया था। कहा गया कि विद्यार्थी अनुशासनहीन हो गए हैं, यद्यपि बात कुछ दूसरी ही है। तरुण स्वभाव से आदर्शवादी होता है। चारों ओर जीवन में आदर्श परिस्थितियों के अभाव में उसका खीझ भरा विद्रोह फूट पड़ता है। टूटते और बिखरते हुए राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक आर्थिक शैक्षणिक ढाँचे जबरदस्ती बनाए रखने वालों के प्रति उसमें आक्रोश है। जिस व्यवस्था के अन्तर्गत वह कराह रहा है, उसका व्यक्तित्व कुंठित हो रहा है, जिसमें यांत्रिकता आती जाती है, जिसकी अतिशय वैज्ञानिकता के भावी दुष्परिणामों से वह सशंकित है और एक अदृश्य अधिनायकत्व के फलस्वरूप मन और मस्तिष्क पर पड़े बोझ से वह चिन्ताकुल है, उसे वह मिटा देना चाहता है, जीवन को स्वच्छ, निर्मल और निरापद बना देना चाहता है। आज संसार का नेतृत्व इन्हीं बेचैन तरुणों के हाथ में है, मजदूरों के हाथ में नहीं।

आधुनिक भ्रष्ट भारतीय जीवन के सन्दर्भों में रहने वाले इन्हीं तरुणों का चित्रण अरविन्दशंकर ने अपने उपन्यास में किया है। स्वतन्त्र भारत में जन्म लेने के कारण उन्होंने गांधी युग के राष्ट्रीय भारत का त्याग, बलिदान और आदर्श नहीं देखा। उन्होंने तो अपने चारों ओर चारित्रिक पतन, नैतिक अवमूल्यन, मूल्यों का विघटन, घूसखोरी, भ्रष्टाचार, मुनाफाखोरी और राष्ट्रीय हित के स्थान पर स्वरति देखी है, लोगों के नकली मुखौटे देखे हैं। वास्तव में स्वतन्त्र भारत दो मूल दोषों से पीड़ित है जिनसे अन्य सारी बुराइयाँ उत्पन्न हुई और हो रही हैं। वे हैं—चरित्र और नेतृत्व का खोखलापन—crisis of character और crisis of leadership। ऐसे खोखलेपन में आज का तरुण घुटन अनुभव कर रहा है और कल्याण राज तथा लोकतान्त्रिक समाजवाद खोखले शब्द बन गए हैं उनकी अर्थवत्ता नष्ट हो चुकी है। स्वतन्त्र भारत में ईमानदारी का कोई स्थान नहीं रह गया। देश सेवा का मानदण्ड है—हलवे-मांडे की सुरक्षा और देशभक्ति के नाम पर जनता को मूर्ख बनाना और भौतिक सुख-साधन जुटाना। जड़ रूढ़िवादिता को कोई मिटाना नहीं चाहता। जो मिटाना चाहता है उसे नास्तिक और कम्युनिस्ट कहकर दबाने की चेष्टा की जाती है। भले लोग अपना अस्तित्व झूठा और निरर्थक समझने लगे हैं। गांधी जी के समय में आत्मबल और रचनात्मक शक्ति थी देश में, भावनिष्ठा और सिद्धान्तवादिता थी, वही बातें आज तिरोहित हो गई हैं। आज़ादी की लड़ाई में जो निस्वार्थ देश सेवक थे वे आज सत्ता और पैसे के मोह में पड़कर भटक गए हैं। वे अपनी तपस्या छोड़ बैठे हैं। अंग्रेजों के समय में

जो कायर और दब्बू समझे जाते थे वे आज देश-भक्त माने जाते हैं।

देश का बुद्धिजीवी वर्ग भी डावांडोल है। पूंजीपतियों ने अपना जाल अलग फैला रखा है। 'रामराज्य' के स्थान पर फूट, असंगठन, विलास, व्यभिचार, लूट, डाका, खून और चोरबाजारी का ज़माना आ गया है। देश के जीवन में एक ऐसा अप्रत्याशित मोड़ आया है जिसकी आज से पच्चीस वर्ष पहले कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। समृद्ध होने के स्थान पर जीवन खोखला हो गया है। बावजूद इसके कि स्वतन्त्र भारत में अनेक विकास-योजनाएँ कार्यान्वित हो चुकी हैं, और हो रही हैं, लोग निष्क्रिय, विचार-शून्य निकम्मे और परावलम्बी होते जा रहे हैं। सब तरफ माँग के नारे सुनाई देते हैं, कर्त्तव्य-पालन तो लोग जैसे भूल गए हैं। स्वस्थ सामाजिकता का अभाव सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। तथाकथित 'पॉश सोसायटी' भ्रष्ट है। आभिजात्य बुद्धिवाद चिराग तले अंधेरे की कहावत चरितार्थ करते हैं। देश के बौद्धिक उद्देश्य-भ्रष्ट और लक्ष्यहीन हैं।

भारतीय संस्कृति की आड़ में सारे खुराफात हो रहे हैं। शिक्षण संस्थाओं में पालिटिक्स घुस गई है। साम्प्रदायिकता, भाषावाद, जातिवाद, आदि के कारण समूचे देश के प्रति अपनेपन की भावना ग़ायब होती जा रही है। समाज में रहते हुए भी व्यक्ति खोता जा रहा है। वह अपने आप में अकेला है। एक भारी भीड़ उसे निगलती जा रही है। चारों ओर सच्ची नागरिकता और दायित्व का अभाव दृष्टिगोचर हो रहा है।

देश के जीवन की इन परिस्थितियों ने चारों ओर विद्रोहों और मानसिक विस्फोटों का युग पैदा कर दिया है। वैसे तो दो पीढ़ियों का संघर्ष कोई नई बात नहीं है, किन्तु आज का संघर्ष सचेतन और तीखा है। पुरानी और नई दुनिया के बीच एक चौड़ी दरार पड़ती जा रही है। ऐसी हालत में तरुण वर्ग का आगे बढ़ना स्वाभाविक है। ऐसे तरुण भी हैं, जिनमें कोई उमंग नहीं। ऐसे तरुण भी हैं जो अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए कोई भी दाँव-पेंच खेल सकते हैं। किन्तु द्वितीय महायुद्ध के बाद की राजनीतिक-आर्थिक-सामाजिक परिस्थितियों से पीड़ित तरुणों का एक ऐसा वर्ग भी है जो विद्रोह-पथ पर अग्रसर है। उनके विद्रोह में दिशा-हीनता भले ही हो, किन्तु उनकी पीड़ा सच्ची है। वे सचाई, ईमानदारी और न्याय की मांग करते हैं। एक ओर यदि लच्छू नौजवान भारत का एक रूप प्रस्तुत करता है तो रमेश, जयकिशोर आदि उसका दूसरा रूप प्रस्तुत करते हैं। रूप कोई-सा हो इतना निश्चित है कि हिन्दुस्तान बदल रहा है और तरुणों के माध्यम से बदल रहा है।

इन औपन्यासिक तरुणों पर विचार करते समय स्वयं अरविन्दशंकर या (नागर जी) के इस कथन पर ध्यान रखना आवश्यक है---"रद्दीसिंह का चरित्र । अपने मित्र सहपाठी कुंवर बच्चूसिंह के ध्यान से मेरे मन में इस पात्र की कल्पना

आई···दुबारा पढ़ते हुए मुझे अपनी यह कारगुजारी अनुचित नहीं लगी, बल्कि ऐसा लगा कि एक सत्य प्रसंग के साथ जुड़ जाने वाला यह उपप्रसंग भी अनिवार्य रूप से सत्य ही है।

"लेकिन क्या यह कला पर मेरा आरोपण नहीं हुआ ? मुझे तो नहीं लगता। सृष्टि विभिन्न तत्त्वों का आधार लेकर ही होती है, लेकिन उस सृष्टि का रूप अपने मौलिक तत्त्वों से एकदम भिन्न हो जाता है। बाप-बेटे आपस में कितना ही गुण, रूप साम्य क्यों न रखते हों लेकिन उनमें एक मौलिक दृष्टि-भेद होता ही है। इसे बेटे की बाप के प्रति अवज्ञा नहीं माना जा सकता—और आरोपण तो वह किसी भी तरह है ही नहीं। फिर मेरी रचना-प्रक्रिया में इस प्रकार का दोष नहीं माना जा सकता।

"पर ये विचार, ये कल्पनाएँ एकाएक आती कहाँ से हैं, प्रेमचन्द के बारे में यह विदित है···खुद मैं भी इस सवाल का जवाब नहीं दे सकता। हर छोटे-बड़े लेखक के साथ में कमजोरी होती है कि वह यथार्थ जीवन के कुछ चरित्रों, घटनाओं और कुछ भावों से ऐसा बंध जाता है कि नये-नये रूपों में उनको बार-बार विभिन्न परिस्थितियों में पेश करने की बात बना लेता है। कलाकार एक मूल बिम्ब से पचासों और कभी-कभी सैकड़ों विभिन्न पात्रोंका सृजन कर डालता है।···क्या यही एकता में अनेकता वाला सत्य है। जी तो चाहता है कि 'हाँ' कह दूँ, पर ये कहना फिलहाल सहसा आसान नहीं मालूम होता।"

अपने पारिवारिक जीवन का परिचय देते हुए अरविन्दशंकर आकस्मिक ढंग से भीड़ में से पात्र चुन लेता है और तरुण वर्ग से सम्बन्धित उपन्यास आरम्भ हो जाता है। अरविन्दशंकर के उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह अपने जीवन में आए हुए मित्रों, परिचितों और उनके व्यक्तित्वों का आरोपण उपन्यास के पात्रों पर करता है। वह वास्तविकता का आभास देता है, यद्यपि सब को कल्पित होने की घोषणा कर पाठकों को जैसे चौंका देना चाहता है। इसके अतिरिक्त उपन्यास ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है, अरविन्दशंकर अपने को भूलकर पात्रों में रमता जाता है। रद्धसिंह के भूख औ कुण्ठाजनित व्यक्तित्व की कल्पना अरविन्दशंकर के सहपाठी कुंअर बच्चूसिंह के आधार पर होने के कारण उसमें एक विचित्र आकर्षण उत्पन्न हो गया है। इसी प्रकार उसके दोस्त हिदायत के चिन्तन पक्ष का आरोपण भी उपन्यास मे हुआ है। 'यूसुफ की कल्पना के पीछे वोही मेरा बालमित्र हिदायत तो नहीं। कैसे आ जाते हैं ये चरित्र ?' किन्तु तुरन्त ही—'हिदायत से उसका कोई स्पष्ट साम्य नहीं। वैसे दोनों ही साफ़ दिल, ईमानदार और परोपकारी हैं। लच्छू अनजाने में खुद अरविन्दशंकर का ही प्रतीक बन गया है। नागर जी कुछ-कुछ अपनी ही विशेषताओं में पात्रों को ढालते चलते हैं। 'बूंद और समुद्र' में भी ऐसा हुआ है। वैसे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अन्ध

रूढ़िवादिता और भ्रष्टाचार से आक्रान्त स्वतन्त्र भारत के समाज में यदि एक ओर पुत्ती गुरु का लड़का रमेश, सतनरायन का लड़का लक्ष्मीनरायन या लच्छू कुंवर रद्धसिंह की पुत्री रानी, खन्ना, बहन जी (श्रीमती कुसुम लता खन्ना) कम्मी, जयकिशोर, गोडबोले, पुतुआ, छैलबिहारी, हर्रो आदि है, तो दूसरी ओर पुत्ती गुरु, ला० रूपचन्द रद्धसिंह, लाल साहब, वहीदा बेगम आदि हैं और सर्वोपरि डॉ० आत्माराम हैं। पात्र-योजना में स्पष्ट विभाजन है। पहले वर्ग के पात्र तरुण और समाजवादी विचारधारा की ओर झुके हुए हैं। डॉ० आत्माराम आभिजात्य वर्ग के राजनीतिज्ञ और सारस लेक के जीवन के नायक हैं। दूसरा वर्ग भारत की अन्धरूढ़िवादिता का प्रतीक है जो भारतीय संस्कृति की आड़ में सड़ी-गली परम्पराओं का पोषक है। दोनों वर्गों में संघर्ष है। बाढ़-पीड़ित नगर में तरुण वर्ग अपने अदम्य उत्साह और साहस द्वारा जो सेवा-कार्य करता है उससे वह लोकप्रिय हो जाता है। किन्तु नवीन और प्राचीन का संघर्ष प्रारम्भ होता है कूचा केशोराय में राज्य की हवेली के खण्डहर से। यह खण्डहर तरुण वर्ग की क्रियाशीलता का केन्द्र है, वहाँ तरुण विद्यार्थी अध्ययन करते हैं, वहाँ उनका वाचनालय आदि है। इसी खण्डहर में रूपचन्द वर्ग मन्दिर बनवाने की योजना की आड़ में स्वार्थपूर्ति करना चाहता है। तरुण वर्ग मन्दिर बनाने और जात-पाँत का विरोध करना और अन्त में पुलिस से टकराता है। इस संघर्ष में जान है, तेजी है। उसमें पारिवारिक, सामाजिक और राजनीतिक सभी संघर्ष घुल-मिल गए है। गलतियाँ करने पर भी इन तरुणों में उत्कट देश-प्रेम है। इसी प्रकार की घटनाओं के बीच रमेश और रानी का प्रेम विकसित होता है रमेश अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, प्रेम के अधिकार और अन्तर्जातीय विवाह के लिए लड़ता और सफल होता है। लाल साहब और वहीदा बेगम की शारीरिक लालसाओं और वासनाओं की दुनिया का नग्न चित्र भी हमारे सामने आता है और शरीर की भूख से बने निर्लज्ज और हीन पात्रों का दृश्य आँखों के सामने नाच जाता है। तरुणवर्ग को रूपचन्द वर्ग नास्तिक और अनुशासनहीन मानता है। उपन्यासकार अरविंदशंकर का मूल उद्देश्य समाज, धर्म आदि की जीर्ण-शीर्ण परम्पराओं के प्रति विद्रोह की पृष्ठभूमि तैयार करना है। इस कार्य की पूर्ति के लिए लेखक ने तरुण विद्यार्थियों को चुनकर ठीक ही किया है, क्योंकि जब समाज में प्रगति अवरुद्ध होने लगती है तो तरुण वर्ग ही गतिशीलता का परिचय देता है। स्वतन्त्रता-संग्राम के समय में जब बुजुर्ग नेता औपनिवेशिक स्वराज्य से सन्तुष्ट हो जाना चाहते थे तब तरुण जवाहरलाल नेहरू और तरुण सुभाषचन्द्र बोस ने ही पूर्ण स्वतन्त्रता का नारा लगाया था। धर्म और संस्कृति, राजनीति और आर्थिक नीति के नाम पर स्वतन्त्र भारत में फैले भ्रष्टाचार को दूर करने के लिए तरुण वर्ग यदि आगे आता है तो स्वाभाविक है। यौवन के अभावों और अपमानों से यही वर्ग जूझ सकता है विभिन्न

मान्यताओं, परम्पराओं और प्रवृत्तियों के घात-प्रतिघात से गठित पात्रों का चित्रण नागर जी की चरित्र-चित्रण पद्धति की विशेषता है। परिस्थितियों और पात्रों के चयन में वैविध्य है और उनके माध्यम से मूल्यों की टकराहट है।

रमेश 'इंडिपेंडेंट' पत्र का संवाददाता और एक निर्धन पिता का क्रान्तिकारी पुत्र है। बहन के विवाह का प्रबन्ध करते समय उसे अमीरी-गरीबी और समाज-संगठन का असली रहस्य मालूम होता है। 'कैपिटलिस्टों' के कारण उस जैसों की मट्टी-पलीद हो गई है। अपनी बहन के विवाह के समय बारात और बारातियों की क्षुद्रता के चित्रण द्वारा उपन्यासकार प्रारम्भ में ही एक सड़ी-गली दुनिया की ओर संकेत करता है। रमेश और उसके साथियों की खीझ स्वाभाविक है। इसी प्रकार बाल विधवा रानी की घुटन जिस समाज की देन है, उसके प्रति विद्रोह कर उसका रमेश से विवाह कर लेना भी स्वाभाविक है। खन्ना और बहन जी का उन्हें प्रोत्साहन और प्रश्रय देना सुधारवादी और साथ ही मानवतावादी दृष्टि-कोण का परिचायक है। रमेश और उसके दल का संघर्ष जब चोर बाज़ार के रूपचन्द से होता है तो तरुण विद्यार्थियों की तेज़ी, उत्साह (साथ ही अनुभव की कमी), कार्यकुशलता, सचाई, लगन आदि गुण देखने योग्य हैं। केवल डॉ० आत्मा राम और खन्ना को छोड़कर कोई उनके साथ नहीं है। वे अपना नेतृत्व स्वयं करते हैं। रूपचन्द वर्ग के पात्र अनुभवी, साधन-सम्पन्न, किन्तु नैतिक दृष्टि से पतित और कायर लोग हैं। अपने स्वार्थ के लिए वे दंगे तक कराते हैं। उनका उद्देश्य केवल 'स्व' की पूर्ति करना है। स्वतंत्र भारत में फैले हुए सब प्रकार के भ्रष्टाचार के वे प्रतीक हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उपन्यास के कई पात्र हमारे मन पर अपना प्रभाव छोड़ जाते हैं। नायक रमेश और रानी का प्रेम कविता का विषय होते हुए भी अपने में स्वच्छन्द प्रेम का स्वच्छ उदाहरण प्रस्तुत करता है। अरविंद शंकर रमेश और रानी की कथा को प्रधानता देता और सारे घटना-चक्र को उनके इर्द-गिर्द बुनता है। किन्तु रमेश के साथ-साथ सारस लेक के वातावरण में पालित-पोषित लच्छू का चरित्र अपने ढंग से अधिक आकर्षक बन पड़ा है। लच्छू जैसे पात्र भारत में सब जगह मिलते हैं। यद्यपि वह मूलतः कायर, दुर्बल मनोवृत्ति वाला, प्रति-हिंसक और अवसरवादी है, तो भी वह अपने चारित्रिक उत्थान-पतन के प्रति सजग है और उपन्यासकार ने उसके व्यक्तित्व में द्वन्द्वपूर्ण प्रभावात्मकता उत्पन्न की है। उसका चित्रण कलात्मक ढंग से हुआ है। अपनी प्रभावात्मकता में वह नायक रमेश से बाज़ी मार ले जाता है। पूँजीवादी समाज के कारण उत्पन्न उसकी ध्वंसात्मक और अमानुषिक प्रवृत्तियों के रहते हुए भी वह कुंठा और असंतुलन का जीता-जागता चित्र है। कैरियर का मोह उसे कहाँ से कहाँ ले जाता है। वह दिशाहीन है किन्तु उसकी पीडा सच्ची है। उसकी पीड़ा आज के युवक समाज की पीड़ा है।

डा० म के है—ऐस म घिरे हुए उनका

अपना पत्र—साम्राज्य है। पवित्र और महान् माने जाने वाले उनके व्यक्तित्व की साया में ही कुत्सित सेक्स जीवन और दमित यौन कुंठाएँ सारस-लेक के जीवन को खोखला बना देती हैं। स्वयं आत्माराम की सक्रियता अधिक चित्रित न कर लेखक ने उनके व्यक्तित्व को लेकर झूठे पड़ गए आदर्शों, पुरानी पीढ़ी की प्रतिक्रियावादिता, नई पीढ़ी की दिशाहीनता, लच्छू का चारित्रिक विश्लेषण और आधुनिक व्यावसायिकता की ओर संकेत कर स्वतंत्र भारत के जीवन पर प्रश्न-सूचक चिह्न लगा दिया है। तरुण वर्ग से सम्बन्धित उपन्यास के ५७वें परिच्छेद में लच्छू डॉ० आत्माराम से जो कुछ कहता है वह आज के राजनीतिक आन्दोलन और समाज-निर्माण के 'जोशीले' कार्य पर एक तीखा व्यंग्य है। लच्छू केवल लच्छू नहीं था, वह आज के भारत का नवयुवक है। डॉ० आत्माराम के सामने वह कुंठित नौजवान भारत बैठा था, जो बेकार है, दरिद्रता से नफ़रत करता है, उन्नतिशील जीवन चाहता है और न मिलने पर, दुत्कारे जाने पर अपने कुंठित आत्म-सम्मान के लिए, जीवन-सुरक्षा के लिए कितना अविवेकी, क्षुद्र और अंधस्वार्थी हो जाता है। ये अभी अपराधी नहीं, विकृत विद्रोही भर हैं। इसीलिए डॉ० आत्माराम उसे रोते देखकर कहते हैं : 'लड़ो, विद्रोह करो। ब्यूरोक्रेसी की मशीन से और समाज की अंधरूढ़ियों से लड़ना मर्दों का, सूरमाओं का काम होता है, समझे। मशीन गुस्से में आकर तोड़ना नहीं चाहिए। उस पर क़ब्जा करना चाहिए, उसे अपनी तरह से चलाना चाहिए।' डॉ० आत्माराम पं० नेहरू की याद दिलाते हैं और उनके माध्यम से राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया में अमृत के विष बन जाने की बात घटित करते हैं। खन्ना और बहन जी निस्पृह एवं प्रगतिशील कार्यकर्ता हैं। इस उपन्यास के नारी पात्र जाग्रत नारीत्व के प्रतीक हैं जो अपने चारों ओर के नरक-जैसे वातावरण से उबरना चाहते हैं। किन्तु उनका कोई संगठन नहीं है। पुत्ती गुरु रोचक व्यक्ति है और अपने पुराने संस्कारों और पुत्र-प्रेम के बीच झूलते जीवन का आनन्द उठाते हैं। इस उपन्यास में पात्र आदर्श नहीं हैं। वे अपना सहज स्वाभाविक मानव-रूप लेकर आते-जाते हैं। उनमें अन्तर्द्वन्द्व और बाह्य द्वन्द्व दोनों हैं।

वास्तव में 'अमृत और विष' की कथा सामयिक भारत के तरुण वर्ग के बाह्य और आन्तरिक संघर्ष की कथा है। परिस्थितियों के अनुसार घटना-प्रवाह बदलता है और पात्रों के चरित्र में भी परिवर्तन दृष्टिगोचर होते है। यह पहला उपन्यास है जिसने तरुणों की शक्ति को साहित्यिक स्तर पर स्वीकार किया है। काजर की कोठरी में रहते हुए भी नई पीढ़ी कालिमा को मिटा डालने के लिए कटिबद्ध है। इस कालिमा को वे अपने मन की ज्योति और बाह्य संघर्ष से मिटा डालेंगे।

उपन्यास की भाषा विषयानुकूल, पात्रानुकूल और प्रवाहपूर्ण है। वह लोक जीवन सापेक्ष और कहावतों-मुहावरों और पटाखे-जैसे शब्दों से पूर्ण हैं। उसमें

सरसता के साथ ओज और व्यंग्य शक्ति है। थोड़े-से शब्दों में बड़ी बात कहना नागर जी भली-भाँति जानते हैं। उन्होंने स्थान-स्थान पर ऐसे उपयुक्त शब्द चस्पाँ किए हैं कि जिन्हें हटाया नहीं जा सकता। पात्रों का व्यक्तित्व उनके शब्दों में झलकता है। उनकी भाषा में रस है।

सम्यक् दृष्टि से विचार करनेपर उपन्यास की कथा में नागरजी की उपन्यास-कला सम्बन्धी दृष्टि का पता तो चलता ही है, साथ ही उसमें अरविन्दशंकर के जीवन का परिवेश और उसमें आने वाले पात्र और परिस्थितियाँ भी गुंथ गई हैं। परिवेश, पात्र और परिस्थितियों की क्रिया-प्रतिक्रिया रोचक बन पड़ी है। प्रयोग के रूप में होने और कथा-सूत्र का निर्वाह करनेके कारण कथा में कहीं-कहीं शिथिलता आ गई है। आन्दोलन से सम्बन्धित कुछ अंश, पत्र साम्राज्य पर आक्रमण, रमेश का पराक्रम, डॉ० आत्माराम की योजना, लच्छू का हृदय-परिवर्तन आदि ऐसे ही अंश हैं। उपन्यास का अन्त भी कुछ कमज़ोर हो गया है। उपन्यास के अन्त में पारिवारिक प्रसंगों के कारण अरविन्दशंकर भी आवश्यकता से अधिक विह्वल हो जाता है। उसका चिन्तन औपन्यासिक कथा के सहज प्रवाह में बाधा उपस्थित करता है। उमेश की आत्म-हत्या और भवानीशंकर का दार्शनिक ऊहापोह उपन्यास की मूल संवेदना से अधिक मेल नहीं खाता। कहीं-कहीं वस्तुओं, पात्रों और स्थितियों की विवरणात्मकता अनावश्यक रूप से विस्तृत हो गई है। उपन्यास में ऐसे ही कुछ और अंश हैं जो बहुत सफल नहीं कहे जा सकते। किन्तु कथा-शैली की दृष्टि से उसमें नागरजी की प्रतिभा का परिचय प्राप्त होता है। उपन्यास की रचना के साथ-साथ अरविन्दशंकर अपनी स्मृति और पात्रों के चित्रण को कुशलतापूर्वक घुलाता-मिलाता चला है। अरविन्दशंकर के वंशगत इतिहास से ही नहीं, डॉ० आत्माराम, रद्धूसिंह और लालसाहब के वंशगत प्रसंगों द्वारा भी समाज का उत्थान-पतन, बदलते हुए मानदण्ड और मूल प्रवृत्तियाँ और मान्यताएँ, नैतिक और चारित्रिक गठन, ये सब बातें नागरजी की औपन्यासिक कला की महत्त्वपूर्ण अंग बनकर आई हैं। उसमें बारादरी के चारों ओर की घटनावली, लालसाहब से सम्बन्धित प्रसंग, लच्छू का वृत्त जैसे कई सशक्त अंश हैं। नागरजी ने झूठी मान्यताओं और मिथ्या मूल्यों और आडम्बर तथा पाखण्ड को चीरकर यथार्थ का दिग्दर्शन कराया है। किन्तु इतना भी स्वीकार करना पड़ेगा कि लेखक ने अन्तर्विरोधों की सूक्ष्मता या जटिलता की अभिव्यक्ति बहुत कम की है। कहीं पर तो वह स्वयं अपने चिन्तन में उलझ जाता है और फिर नवयुवकों की मनोवृत्ति, उनके चिन्तन, समाज की प्रवृत्तियों आदि के विश्लेषण की दृष्टि से लेखक सतही और स्थूल बातों में उलझकर रह जाता है। उसमें अत्यधिक सरलीकरण और सतहीपन है। इस दृष्टि से 'अमृत और विष' उपन्यास 'बूंद और समुद्र' से कमज़ोर पड़ता है हो सकता है प्रस्तुत का विषय

अभी सतही स्तर पर है और नागरजी ने इस दृष्टि से यथार्थ का अनुगमन किया है, क्योंकि हम सभी जानते हैं कि आज का तरुण वर्ग बेचैन है अवश्य, किन्तु साथ ही वह दिशाहीन, साधनहीन और गम्भीरचिन्तनविहीन भी है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि कुल मिलाकर नागरजी की औपन्यासिक दृष्टि आज की ताजी दृष्टि है। उसमें आज का वास्तविक यथार्थ जीवन है। उपन्यास की सबसे अधिक सफलता इस बात में है कि उसमें आधुनिक, स्वतन्त्रता के बाद का, भारत अपनी सभी उपलब्धियों के साथ प्रतिध्वनित हो उठा है। नई पीढ़ी आज की मानसिक अराजकता, भ्रष्टाचार, प्रतिक्रान्ति और शब्दाडम्बरपूर्ण अकर्मण्यता के साथ समझौता नहीं कर पा रही। भारतीय संस्कृति के साथ व्यभिचार होते देखकर तरुण विक्षुब्ध हैं। यह उपन्यास उन्हीं का है। अमृत का विष बना। अब शायद विष अमृत में परिणत हो जायगा। अन्धकार में प्रकाश के लिए सबको जीना है।

'अमृत और विष' स्वतन्त्र भारत की नई पीढ़ी का प्रतिनिधि उपन्यास है।

उपेक्षित साधारण की गरिमामय प्रतिष्ठा : 'सुबह अंधेरे पथ पर'[1]

स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद हिन्दी उपन्यासों की एक बहुत बड़ी विशेषता यह रही है कि मानव जीवन की नियति नारों और आधुनिकता के नाम पर उन परिस्थितियों से सम्बद्ध कर दी गई, जो भारतीय नहीं थीं। यह एक बड़ी विचित्र बात थी कि मनुष्य को उसके यथार्थ परिवेश में देखने तथा समकालीन जीवन-बोध का बिना तोड़े-मरोड़े तथ्य-परक वर्णन करने का दावा जितना इस दौर में किया गया, उतना कदाचित् पहले किसी भी दौर मे नहीं। लेकिन कथ्य एवं कथन इस सत्यता से कोसों दूर थे। उनमें जीवन की वह यथार्थता नहीं थी, जो समकालीन जीवन संदर्भो में अन्तर्निहित थी या नये परिवेश में उभर रही थी। कुल मिलाकर यदि गत बीस वर्षों के उपन्यासों पर एक दृष्टि डाली जाए, तो सबसे प्रमुख बात यही स्पष्ट होती है कि सम्पूर्ण मानव जीवन को आधुनिकता का एक वाहक मात्र समझ लिया गया और उसे चित्रित करने एवं अपने समय तथा समाज का एक जीवन्त यथार्थपरक चित्र उपस्थित करने की उत्कट प्यास नये लेखकों में उतनी नहीं थी, जितनी आधुनिकता का मसीहा बन जाने की। इस मसीहापन ने विगत दो दशाब्दियों में हिंदी उपन्यासों की जितनी दुर्गति की है, उतनी सम्भवतः किसी अन्य प्रवृत्ति ने नहीं।

नैराश्य के इस वातावरण में समकालीन जीवन-बोध को स्पष्ट करनेवाले जो भी उपन्यास सामने आते है, उन्हें देखकर यह विस्मय होता है कि इतनी समर्थता एव गहन मानवीय दृष्टि-बोध से सम्पन्न हमारे नये उपन्यासकार किस विभ्रांति के शिकार बने हुए अपनी सम्पन्नता का इतना तिरस्कार कर रहे हैं। लेकिन इन सारी बातों के बावजूद वर्तमान जीवन-धारा से सम्बद्ध महत्वपूर्ण उपन्यासों की एक परम्परा, चाहे उसकी गति मन्द क्यों न हो, अबाध गति से विकसित होती रही है। सुरेश सिनहा का 'सुबह अँधेरे पथ पर' इसी परम्परा का अन्यतम उपन्यास है।

१ सुरेश सिनहा 'सुबह अंधेरे पथ पर' १९६७ स्मार्ट प्रयाग

सुबह अँधेरे पथ पर' में प्रमुख रूप से मूल्यों का संघर्ष चित्रित हुआ है—वे मूल्य, जो स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद उभरे है और जिन्होंने आज के भारतीय जीवन की गति को पर्याप्त सीमा तक संचालित किया है। वे मूल्य एक प्रकार से भावी संवाद की भूमिका भी प्रस्तुत करते हैं। स्वतन्त्रता का लक्ष्य न केवल राजनीतिक नेताओं के लिए एक बड़ा स्वप्न था, वरन सम्पूर्ण भारतवासियों के लिए भी वह एक ऐसा बिन्दु था, जहाँ से एक सर्वथा नये युग के प्रारम्भ होने की कल्पना थी। इसकी प्राप्ति की मंगलकांक्षा में इन्होंने अपना सम्पूर्ण ही नहीं समर्पित कर दिया था, वरन अपनी समस्त आशाएँ भी केन्द्रित कर दी थीं। भारतवासियों का यह तबका निम्न-मध्यवर्ग का था, जो निश्चय ही भारतीय जीवन का मूल था और उसी से परम्पराओं के विशृंखलित या संयोजित होने की सम्भावनाएँ भी थी। यह वर्ग पूर्व-स्वतन्त्रता काल में जिस सीमा तक शोषण का शिकार था, उससे कहीं अधिक शोषण का शिकार स्वतंत्रता के पश्चात बन गया। यह एक ऐसे स्वप्नलोक का टूटना था, जो नितान्त अप्रत्याशित था और जिसने भारतीय जीवन की पूर्ण भावधारा ही परिवर्तित कर दी। इस उपन्यास में इसी परिवर्तन के सूत्रों का सूक्ष्म सगुंफन हुआ है।

निम्न मध्यवर्ग कदाचित सबसे अधिक विडम्बनाओं का शिकार है। अपनी स्थिति रखने के लिए उसे प्रदर्शन करने की अनिवार्य बाध्यता स्वीकारनी पड़ती है और अपने आन्तरिक खोखलेपन को अत्यन्त कृत्रिम ढंग से अस्वीकारना होता है। दूसरे शब्दों में निम्न मध्यवर्गीय लोगो की जिन्दगियाँ दिखावे और झुठलावे की जिन्दगियाँ हैं, जिनका न कोई अर्थ है न कोई अस्तित्व। इस वर्ग को यह आशा थी कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात उनका भी एक स्थान एवं महत्त्व होगा, किंतु वह मात्र एक भ्रम ही सिद्ध हुआ। जिस मूल्य-मर्यादा की शून्यता ने पहले उनके जीवन को पशुवत बना दिया था, उसी ने बाद में उन्हें और भी अस्तित्वहीन कर दिया, लेकिन उनकी मूल्य-मर्यादा की प्यास पूर्ववत बनी रही। इसी पर व्यग्य कसते हुए एक स्थान पर परमात्मा बाबू कहते हैं—''कहाँ तक बनी रहेगी यह घर की मर्यादा ? गाँव के नीचे क्या है ही हमारे, जो टीम-टाम करें। यह सब सोचना ही फिजूल है। प्रदर्शन हमारी दुर्बलता है। तुम मानों, कोई किसी के अभाव पर कभी कुछ नहीं कहता, केवल हम भयभीत मात्र होते हैं, इसीलिए प्रदर्शन की चिंता में घुलते रहते हैं।···किसी को आखिर क्या पता, हम क्या हैं और कैसी जिंदगी बसर कर रहे हैं, कुत्तों से भी बदतर, जिसके बारे में सोचा भी नहीं जा सकता। दुनिया तो बस बाहर देखती है। अन्दर क्या है, कोई पर्दा उठाकर झांके तो पता चले, कैसे दिन-रात एक-एक क्षण के लिए हिसाब-किताब जोड़ना-गाँठना पड़ता है, यह उन्हें क्या मालूम।'' एक और स्थान पर परमात्मा बाबू कहते है, ''निम्नमध्यवर्ग का हर प्राणी सपना ही देखता है। उसके साथ इतनी गरीबी और

लाचारी है कि उसकी हर इच्छा अपूर्ण रह जाती है। अपना सोचा वह कुछ नहीं कर पाता। उसके जीवन में हर तरफ से अधूरापन रहता है। बस मन के संतोष के लिए वह सपने देखता है। उसकी भूलभुलैया मे काल्पनिक सुख पाता है। ' पूर्ण कुछ नहीं होता और सारी जिन्दगी इसी भाग-दौड़ में निकल जाती है '।"

यह एक ऐसी स्थिति है, जो आज की सारी मानवता के सामने प्रश्न चिन्ह है और जो मनुष्य की सम्भावनाओं के विकास को भी सीमित कर देता है। उस वातावरण में, जहाँ निरन्तर तनाव घुटन एवं पग-पग पर ठोकरें ही मिलती हो, मनुष्य की सारी सार्थकता अपने-आप खण्डित हो जाती है। प्रश्न यह है कि इस प्रकार की जीवन स्थितियों में मनुष्य क्या करे ? उसके सामने दो ही विकल्प है। या तो वह अपूर्व जिजीविषा भाव लिए हुए अपने अन्दर एक ऐसी दृढ़ आस्था उत्पन्न करे कि वह परिस्थितियों से ऊपर उठ सके और अपने जीवन-पथ में आने वाली सभी कठिनाइयों का आत्मविश्वास से सामना कर सके। दूसरा विकल्प टूटने का है, जहाँ मनुष्य केवल विघटित ही होता है और अपनी वास्तविक आन्तरिक समर्थता न पहचानकर अपने सारे संकल्पों के सामने नतशिर हो जाता है और मात्र अन्तर्विरोधों का शिकार बन जाता है। आजका आधुनिक जीवन इन्हीं दो विकल्पो के संघर्ष से पूरित है। इस संघर्ष को समकालीन जीवन-सन्दर्भों मे प्रत्येक स्तर पर देखा जा सकता है। इसे एक प्रकार से सक्रियता एवं निष्क्रियता का, कर्मठता एव दायित्वहीनता का संघर्ष भी कहा जा सकता है। सुरेश सिनहा ने इसी संघर्ष को 'सुबह अंधेरे पथ पर' में अत्यन्त विशाल चित्रफलक पर प्रस्तुत किया है और यह प्रस्तुतीकरण सघन अनुभूतियों एवं सूक्ष्म मनोभावों से अत्यन्त मार्मिक बन पडा है। परमात्मा बाबू और राजू क्रमशः इन्ही दो विकल्पों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

'सुबह अंधेरे पथ पर' में मुख्य रूप से एक ही कथानक है—परमात्मा बाबू के परिवार का कथानक जिसमें उनकी पत्नी सुशीला, राजू तथा कीर्ति आते हैं। यो हरबंस, निगमाइन चाची तथा जनता ट्रान्सपोर्ट कम्पनी के मालिक सेठ बल्लभदास से सम्बन्धित भी कुछ कथा-सूत्र आते हैं, लेकिन उनका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। यह सुरेश सिनहा का प्रौढ़ कलात्मक सौष्ठव ही है कि एक परिवार का कथानक प्रस्तुत करते हुए भी उन्होंने इसका संगुंफन इतने विशाल चित्रफलक पर किया है कि वह पूरे युग और समाज के बोध का प्रतीक बन जाता है। पारिवारिक सीमाओं में से निकलकर धीरे-धीरे कथानक के विकासक्रम के साथ ही उसकी सीमाएँ कालव्यापी एवं देशव्यापी बन जाती हैं — जो पूरे उपन्यास को लघुता से विराटता की ओर तथा वैयक्तिकता से सामाजिक संचेतना की ओर ले जाती हैं। इस उपन्यास में अभिनव शिल्प का यह प्रयोग एक नया प्रतिमान है।

पहली दृष्टि में पढ़ने पर यह उपन्यास प्रेमचन्द परम्परा का आभास देता है और सहज ही 'गोदान' की अगली कड़ी होने का भ्रम उत्पन्न करता है कइ लोगों

ने भ्रमवश ऐसा स्वीकारा भी है, किन्तु यह संगत नहीं है। इस उपन्यास में शिल्प की सघनता एवं लेखक की गहरी अन्तर्दृष्टि एक भिन्न स्तर पर भिन्न माँग करती है। यह उपन्यास प्रेमचन्द की परम्परा से अलग है, कथ्य एवं कथन की दृष्टि से भी, शिल्प की सृष्टि से भी। प्रेमचन्द मनुष्य को एक सामाजिक इकाई स्वीकारते थे और यह विश्वास करते थे कि उसका विकास या पतन समाज की सीमाओं में ही होता है। समाज से अलग व्यक्ति की कोई सत्ता स्वीकारने को वे प्रस्तुत नहीं थे। इसीलिए उनके सभी उपन्यासों में, यहाँ तक कि 'गोदान' में भी सामाजिक समस्याओं एवं परिस्थितियों का मनुष्य के ऊपर संघात प्रमुख स्थान पाता था और बाह्य पक्ष का चित्रण ही महत्त्वपूर्ण हो जाता था। यद्यपि पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व एवं मानसिक संघर्ष की प्रेमचन्द ने उपेक्षा नहीं की है,पर उनके चित्रण का आधार आदर्शवादी एवं नैतिक है, यथार्थ नहीं, इसीलिए वह एकांगी भी है अपूर्ण भी। किन्तु प्रेमचन्द के बाद,विशेषरूप से स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद के उपन्यासकारों ने व्यक्ति की अलग से महत्ता भी स्वीकारी और उसके मनोभावों एवं निजी आन्तरिक अनुभूतियों को सहज एवं स्वाभाविक ढंग से अभिव्यक्ति देने की चेष्टा की। यह आवश्यक नहीं था कि यह अभिव्यक्ति नैतिक एवं आदर्शवादी धरातल पर ही हो।

उन नए उपन्यासकारों ने जिन्होंने सामाजिक परम्परा से अपने को निरन्तर सम्बद्ध रखा, उन्होंने इस अभिव्यक्ति की दिशा में बाह्य एवं अन्तस् का सन्तुलन अत्यन्त सूक्ष्म ढंग से स्थापित किया और एक स्तर पर न तो कृत्रिम ढंग से व्यक्ति पर समाज को हावी होने दिया और न अकृत्रिमता की धुन में व्यक्ति को निरा अकेला ही सिद्ध किया। यदि व्यक्ति का निजी आन्तरिक जीवन भी चित्रित हुआ तो वह स्वयं के प्रसार अर्थात् भीतर से व्यापक बाह्य विराट में उन्मीलित होने की दिशा में ही हुआ। 'सुबह अंधेरे पथ पर' इसी परम्परा में शृंखलाबद्ध होता है। इसमें एक ओर व्यक्ति के आचरण और उसकी मनोवृत्तियों की जाँच की गई है जिनके संघात से आधुनिक परिवर्तित सन्दर्भों में मनुष्य की नियति बनती और बिगड़ती है। दूसरी ओर विभिन्न सामाजिक समस्याओं को सर्वथा नूतन परिप्रेक्ष्य में उभारने और उनके अन्तर्निहित सूत्रों को व्यापक धरातल पर स्पष्ट करने की चेष्टा भी की गई है। इसीलिए चिर परिचित सामाजिक समस्याएँ होते हुए भी उन्हें एक नई अर्थवत्ता प्राप्त हुई है, जिसमें गम्भीरता के साथ विशदता भी है। यहीं 'सुबह अंधेरे पथ पर' का रचना संसार 'गोदान' के रचना-संसार से भिन्न होता है और अनेक सीमाओं के बावजूद कहीं अधिक महत्वपूर्ण भी सिद्ध होता है।

आत्मविश्वास एवं जिजीविषा के साथ निजी सुख की कल्पना एवं वैयक्तिक-स्वार्थ मानवीय विवशताओं के अनेक हस्ताक्षर एवं प्रेम की अभिनव संज्ञा आत्म संघर्ष के साथ मनोवृत्ति तथा व्यक्ति-मन की एकान्त निजी ें

वर्जनाओं एवं कुण्ठाओ के परस्पर द्वन्द्व को अत्यन्त सूक्ष्म धरातल पर इस उपन्यास मे अन्वेषित करने का प्रयास किया गया है, जो बड़ा सहज एवं स्वाभाविक है।

'सुबह अंधेरे पथ पर' स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद के भारतीय जीवन की दोनो पीढ़ियों का मार्मिक दर्पण है! छोटे-से-छोटे स्तर पर पुरानी मान्यताओं और आधुनिक-जीवन सन्दर्भों का संघर्ष बड़ी गहराई में उजागर हुआ है। लेखक ने न केवल छोटे-बड़े सभी पात्रों को, वरन् प्रमुख अप्रमुख समस्याओं को व्यापक सहृदयता की दृष्टि से मूल्यांकित करने और नए सत्य खोजने की चेष्टा की है। एक ओर परमात्मा बाबू, सुशीला, निगमाइन चाची हैं, तो दूसरी ओर राजू, हरबंस, डॉ० रामसागर तथा कीर्ति हैं। एक ओर सेठ बल्लभदास है तो दूसरी ओर आकाशवाणी के साहित्यकार सलाहकार हैं।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद के काल में विभिन्न-जीवन दृष्टियों, राजनीतिक विचारधाराओं,क्षुद्रताओं एवं विराटताओं, आधुनिक सामाजिक, आर्थिक एवं नैतिक तनाव तथा मानव की आन्तरिक प्रवृत्तियाँ एवं विघटन, राजनीतिक नारे तथा भाई-भतीजावाद वाली भारतीय डेमोक्रेसी सभी कुछ एक विराट एल्बम की भांति इस उपन्यास में एक के बाद एक उभरते चले आते हैं और कहीं भी साभासपन लक्षित नहीं होता, यही इस उपन्यास की सर्वप्रमुख विशेषता है। इस उपन्यास मे बहुत ज्यादा पात्र नहीं हैं, किन्तु उनके माध्यम से अनगिनत चेहरे सामने घूम जाते है और इलाहाबाद शहर के बहाने पूरा स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद का भारत अपनी विशेषताओं एवं कुरूपताओं के साथ हमारे सामने उपस्थित हो जाता है। यह कम महत्त्वपूर्ण चीज नहीं है। पूरे उपन्यास पर त्रासदी एवं अवसाद की घनीभूत छाया है और मन की मार्मिकता को बार-बार झंझोड़ कर रख देने की अद्भुत क्षमता है। एक में अनेक संसार और अनेक संसार में एक संसार— 'सुबह अंधेरे पथ पर' मानवीय विवशताओं की बृहद् गाथा है।

इस उपन्यास में टूटती हुई मान्यताओं एवं जड़ व्यवस्था पर जो प्रहार किये गए हैं, वे नई पीढ़ी के पक्षधर होने के नाते अविवेकपूर्ण ढंग से नहीं वरन् सार्थक ढंग से। और जहाँ नए मूल्यों को उभारने की चेष्टा की गई है, वहाँ कोई अतिरिक्त उत्साह या आवेश नहीं, वरन् सुचिंतित दृष्टिकोण प्रतिपादित होता है। इसे इस रूप में भी कह सकते हैं कि न तो पूर्णतया आदर्श को अस्वीकारा गया है और न यथार्थ की अतिरंजित प्रतिष्ठा ही की गयी है।

यथार्थ और आदर्श का जो संघर्ष सुरेश सिनहा ने इस उपन्यास में चित्रित किया है, वह आज की हमारी संक्रान्तिकालीन मान्यताओं से जुड़ा हुआ है और दो भिन्न जीवनदृष्टियों एवं जीवन-पद्धतियों के विस्तृत एवं व्यापक क्षेत्रों में अन्तर्निहित है। इसके चित्रण के लिए जिस महाकाव्यात्मक गरिमा एवं मर्यादा की आव२ थी निस्सन्देह सुरेश सिनहा ने अपने इस में वह स्थिति प्राप्त

दृष्टि से परमात्मा बाबू स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद के कथा-साहित्य की ऐसी अद्वितीय सृष्टि है, जो अपने असाधारण व्यक्तित्व, तथाकथित आधुनिकता या प्रेम-विरह की ट्रेजेडी के कारण बेजोड़ नहीं है, वरन् अपनी जिजीविषा, आत्म-संघर्ष, संकल्प एवं आस्था के साथ अपूर्व आत्मविश्वास के कारण ही अविस्मरणीय बन जाते हैं। वस्तुत: वे स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद के कथा-साहित्य की पात्र-योजना में एक नया प्रतिमान स्थापित कर पाने में सफल हो पाते है, इसमें कोई शक नहीं।

परमात्मा बाबू एक ऐसे युग का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो अपनी मान्यताओं के अव्यावहारिक होने के कारण पूरी तरह विशृंखलित हो चुका है लेकिन अपने को अस्तित्वहीन नहीं मानता। परमात्मा बाबू इस युग के उन ढेर सारे लोगों में से है जो जानते है कि उनकी जीवन-पद्धति अब रूढ़ हो चुकी है, उनके सारे आदर्श खोखले सिद्ध हो चुके हैं, और उनका दृष्टिकोण समय के परिवर्तित संदर्भों में बहुत सार्थक नहीं है, फिर भी वे नैराश्य के पुजारी नहीं बनते। एक गहन आस्था लिए हुए वे आने वाले सारे संकटों को निरन्तर इसीलिए झेलते रहते हैं, क्योंकि उन्हें आशा बनी रहती है कि 'हमारी तंगी के ये दिन भी कभी बदलेंगे···ईश्वर अन्धा नहीं है।' लेकिन इस आशावाद का यह अर्थ नहीं लगाया जाना चाहिए कि परमात्मा बाबू निर्जीव आदर्शवादी मात्र हैं या वे यथार्थ की, अपने समय की कटुता, घुटन और दबाव की उपेक्षा सायास रूप से करते हैंऔर किसी काल्पनिक संसार में भटकते हैं। वे यथार्थ को पहचानते ही नहीं, अपने समय की कठोर सत्यता को भी जानते हैं। उनकी स्वीकारोक्ति द्रष्टव्य है—"हम लोगों के भाग्य में यही सब कुछ है। हम लोग पीड़ाओं की पाषाण मूर्तियाँ हैं घुटती हुई और सब कुछ बर्दाश्त करती हुई। हमारे लिए कोई सुबह अपनी नहीं है, कोई शाम अपनी नहीं है। बस एक अँधेरा है, जिसमें कभी-कभी मैं भी भटक जाता हूँ। पर क्या सब हमेशा ऐसा ही रहेगा? ···नहीं भई ऐसा नहीं रहेगा···मेरी मानों, कोई जिन्दगी रुकी हुई नहीं होती। नहीं तो वह ठहरे पानी की तरह दो ही दिन में बदबू करने लगे···सब ठीक हो जाएगा। आवेश या घबड़ाने से वक्त का एलबम कहीं बदलता है! आदमी में चाहिए हिम्मत, विश्वास और संकल्प···" इसमें कोई सन्देह नहीं कि परमात्मा बाबू की सारी जीवन-यात्रा इसकी प्रतीक है और वे सही अर्थों में प्रत्येक जीवन-संघर्ष में इसे सार्थक करते हैं।

जैसा कि मैंने ऊपर कहा है कि यह आदर्श परमात्मा बाबू का जीवन-दृष्टिकोण है। जहाँ भी कोई ऐसी स्थिति आती है, जिसका सामना वे सहज ढंग से नहीं कर पाते, तो बिना अपने जीवन दृष्टिकोण से कोई समझौता किए वे कोई-न-कोई ऐसा व्यावहारिक पक्ष खोज लेते हैं। राजू समझता है कि यह वे सम्मान-पूर्ण ढंग से नहीं करते लेकिन बाबू अपने को कभी इस मत से सम्बद्ध

नहीं कर पाते, क्योंकि इसे वे दिखावा और झूठी प्रतिष्ठा का अनावश्यक मोह समझते हैं। इसीलिए वे राजू के व्यंग्य एवं विरोध का प्रतिवाद करते हुए कहते है, "राजू जब तुम्हें इस गृहस्थी का बोझ उठाना पड़ेगा तब समझोगे कि जीने के लिए कितने सच-झूठ बोलने पड़ते हैं और कहीं सम्मान जाता भी है, तो मेरा ही न ? मैं किसी न किसी तरह मामले को यहाँ तक ले आया। अब तुम बड़े हो गए हो, करो, जो चाहते हो। रहो, जैसा रहना चाहते हो। तुम सुखी रहो, सम्मान पाओ, मुझे और क्या चाहिए···।"

परमात्मा बाबू का जीवन एक मकान का सपना लेकर प्रारम्भ होता है। ऋण लेकर मकान बना और ऋण को चुकाने के लिए ही मकान हाथ से निकल गया। जिन्दगी बराबर बदतर ही बनती गई और सुख एक भी न मिला। लेकिन वे अपना धैर्य नही खोते। अभी कुछ संघर्ष और, अभी कुछ दुःख और शायद और इम्तहान अभी शेष हैं, जिन्हे पार कर उन्हें बराबर आगे जाना है—परमात्मा बाबू इस सिद्धांत में विश्वास करते प्रतीत होते हैं। बल्कि नई पीढ़ी में उन्हें यही दोष—अभाव खटकता है। उन्हे इस बात का असंतोष है कि "भगवान जाने इस देश का क्या होगा, जहाँ की नई पीढ़ी अपनी जिम्मेदारियों के प्रति इतनी असावधान है, और जिसमें दृढ़ता, आत्मविश्वास और संकल्प की इतनी कमी है।" वे चाहते है कि हम अपने सुख की कल्पना अवश्य करें किन्तु इस सीमा तक स्वार्थी नहीं कि हमेशा दूसरों के दुःख में ही चित्रित बने रहें।

उनका दृष्टिकोण एक प्रकार से मानवतावादी है। वे जानते हैं कि विघटन की निम्नतम सीमा तक वे और उनका परिवार पहुँच चुका है। वह पूर्ण रूप से बिखरने की प्रक्रिया मे है, फिर भी उन्हें दूसरों का ध्यान रहता है। परिवार में इसका अत्यन्त तीव्र विरोध होने पर उनकी यह प्रतिक्रिया अत्यन्त मार्मिक है, "अरे आदमी मे कम-से-कम दूसरों के प्रति न सही, तो अपनों के प्रति ही सही कुछ तो प्रेम और सहानुभूति होनी चाहिए न ? आदमी ही आदमी के काम आता है, कोई दूसरा नहीं।" उनका यह मानवतावादी दृष्टिकोण अपनी उपेक्षिता बहू के सदर्भ में भी स्पष्ट होता है। निस्संदेह वे अपना अपराध स्वीकार लेते हैं कि जबर्दस्ती विवाह करके उन्होंने राजू का जीवन नष्ट कर दिया, लेकिन उन्हें निरन्तर अपनी यह असमर्थता कचोटती रहती है कि क्यों नहीं वे राजू को अच्छी या बुरी गले पड़ गई स्थिति को स्वीकार लेने के लिए प्रस्तुत कर पाते।एक ओर वे बेटे की जिंदगी चौपट हो जाने के अपराध भाव से कातर भी हैं, दूसरी ओर उन्हें बहू के भविष्य की चिन्ता भी हर क्षण सालती रहती है। इस संदर्भ में वे 'धर्म और ईमान' को ही बड़ी चीज मानते हैं। उन्हें राजू का विद्रोह असंगत लगता है, क्योंकि "भारत पश्चिमी देशों से भिन्न है। यहाँ की संस्कृति और समाज की गौरवशाली मर्यादा रही है, जो वहाँ खोजे भी नहीं मिलती। कहाँ जरा-जरा-सी बातों को लेकर

तलाक के अलावा न स्त्री का कोई धर्म है और न पुरुष का। विलासिता एवं ऐश्वर्य को उन्होंने इतना अपना लिया है कि आज उन्हें विश्वास भी नहीं होता कि दिखावे या खोखले आधार के अतिरिक्त वे कोई जीवन भी जीते हैं। वे पारिवारिक सुख और गृहस्थी के लिए तरसते है, पर बदले मे उन्हें केवल अतृप्त वासना और अपूर्णता ही हाथ लगती है···" यह दृष्टिकोण आज कदाचित नये के फैशन से मोहग्रस्त लोगों को अपूर्ण या अप्रासंगिक भले ही लगे, किन्तु यह परमात्मा बाबू की सरलता, सहृदयता, पर-दुःख-कातरता तथा नीतिपरायणता का प्रतीक है।

उनकी मृत्यु किसी परम्परा की समाप्ति नहीं, प्रारम्भ है। उनकी मृत्यु आज की आधुनिकता को चुनौती है और नये जीवन मानदण्डों की पुनः परीक्षा तथा मृत समझकर तिरस्कृत कर दिए गए मूल्यों की शव-परीक्षा का आह्वान है। वे आदर्श-पथ के अनुगामी होते हुए भी यथार्थ की चरम सीमाओं पर पहुँचने के लिए निरन्तर चेष्टारत रहते हैं। सुरेश सिनहा ने इस अभूतपूर्व पात्र की सृष्टि के संदर्भ में ही शायद भूमिका के ये शब्द लिखे हैं—"तत्कालीन सारे सम्बद्ध व्यक्ति इसी प्रकार दबाव, घुटन और पीड़ा अनुभव कर रहे होते हैं—वैसे ही निरीह, असमर्थ, कदाचित इनका कोई इतिहास नहीं हो सकता। यदि इनका कुछ इतिहास सम्भव भी हो तो वह अभिव्यक्ति से परे है।" वस्तुतः उन्हें लेखक की अगाध और अपरिमित करुणा तथा सहानुभूति मिली है। उनकी संवेदनशीलता अत्यन्त मार्मिक है। स्वयं जीवनपर्यन्त पीड़ित होकर वे दूसरों को पीड़ा की विकटता एवं यथार्थ की सत्यता से परिचित कराते हैं। दूसरों को परावलम्बन के अंधकार से निकालकर स्वावलम्बन के प्रकाश की ओर गतिशील कर पाने में सफल होते हैं। अन्त में राजू का आत्मविश्लेषण इसका प्रमाण है।

परमात्मा बाबू की दुर्बलताएँ हमारे अंदर करुणा एवं सहानुभूति उत्पन्न करती हैं और उनके कर्मरत संकटग्रस्त जीवन की व्यथा के प्रति करुणा। वे अपने स्वत्व पर सब कुछ झेल जाते हैं, पर अपनी आस्था से नहीं डगमगाते। वे अपने घर और परिवार की मर्यादा की रक्षा के लिए अपना सब कुछ होम कर देते है। ऋण से मुक्ति पाने के लिए, अपनी पारिवारिक प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए सतत परिश्रम करना उनका जीवन-क्रम बन जाता है। वे कभी मुखर नहीं होते और चुपचाप सारे अन्यायों और कष्टों को सहते चले जाते हैं। इस सतत विश्राम-हीन परिश्रम के यज्ञ में वे अपने जीवन की आहुति चढ़ा देते हैं। किन्तु इतना होते हुए भी परमात्मा बाबू एक व्यक्ति है, वर्ग नहीं। यदि उनमें वर्गगत विशेषताएँ आई भी हैं, तो केवल उनकी जीवन्त यथार्थता के ही कारण, नहीं तो उनके व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करने में सुरेश सिनहा ने कोई कसर शेष नहीं रखी है और उनका चतुर्दिक विकास करने में पर्याप्त कौशल से काम लिया है। अन्त

से वे राजू को प्रभावित करते हैं और उसे सतत कार्यरत रहने और आस्थावान बने रहने के लिए प्रेरित कर जाते हैं, यह उनके व्यक्तित्व की ही महानता है।

परमात्मा बाबू के लिए जीवन एक तपस्या है, और धैर्य, संयम, सहिष्णुता तथा निरन्तर संघर्षरत रहकर वे इस तपस्या को पूरा भी करते हैं। पुरानी पीढ़ी की इन्हीं अच्छाइयों का अनुगमन नई पीढ़ी को राजू के माध्यम से करने का आह्वान 'सुबह अँधेरे पथ पर' में मिलता है। अतः राजू का परमात्मा बाबू से प्रभावित होना और अपने को परिवर्तित करने का प्रयत्न करना पुरानी पीढ़ी का नई पीढ़ी पर विजय प्राप्त करने का प्रतीक नहीं समझा जाना चाहिए। उपन्यासकार ने केवल उन गुणों को ही नई पीढ़ी में प्रतिष्ठापित करने का प्रयत्न किया है, जो पुरानी पीढ़ी की ही अनुपम उपलब्धियाँ है और जिनके अभाव में अपनी सारी पीड़ा के सच होते हुए भी नई पीढ़ी दिशाहीन की भाँति भटक रही है। परमात्मा बाबू जैसे चीख-चीखकर कहते हैं कि मानव की आत्मा तब तक मुक्त नहीं हो सकती, जब तक सारी व्यवस्था को हम गहराई से नहीं परिवर्तित कर सकते। ऊपरी टीप-टाप या सतही परिवर्तन से मानव प्रगति तो और भी अवरुद्ध हो जाएगी और उसकी अन्तरात्मा की चीख और भी भयानक बन जाएगी। परमात्मा बाबू के जीवन की ट्रेजेडी इतनी घनीभूत बन जाती है कि पग-पग पर यह सिद्ध होता जाता है कि हमारी स्वतन्त्रता कुछ नहीं, मात्र एक ढकोसला है। परिवर्तन के नाम पर जो व्यवस्था सामने आई है वह बिना नाप के उस छोटे जूते की तरह है, जिसने आज के आदमी के पाँवों को इस बुरी तरह काट खाया है कि वह चल-फिर भी नहीं सकता। वह पंगु बन गया है और नासूर की तरह रिस रहा है।

मानव को मुक्त करनेके लिए इस व्यवस्था का परिवर्तित होना अत्यन्तावश्यक है और मानवात्मा की पुनर्प्रतिष्ठा के लिए सचमुच एक क्रान्ति अनिवार्य है, राजू का चरित्र इन्हीं सम्भावनाओं में विकसित हुआ है। उसमें अपनी परिस्थितियों से विद्रोह करने की भावना तीव्र रूप में व्याप्त है, यदि वह दिशाहीन है तो यह स्वय उसकी नहीं, आज की समूची नई पीढ़ी की विडम्बना है। राजू का यह कथन इसे स्पष्ट करता है, "यूनिवर्सिटी एक कारखाने की तरह थी, जहाँ हमें निश्चित साँचों में ढाला जा रहा था। वहाँ हमारे व्यक्तित्व का नहीं कोर्स का महत्व था। यूनिवर्सिटी बन्द हुई और खुली, इसमें कोई अन्तर नहीं पड़ा। अजब समस्या थी। लाख पढ़ने में मन लगाना चाहता था, पर लग नहीं पाता था। घर क्या था, अच्छी-खासी समर भूमि थी। समझ नहीं पाता था, ऐसा क्यों है ? अपने ही घर में नहीं, अपनी जैसी स्थिति में जिस किसी को भी देखता था, बड़ी हैरानी होती थी। सोच-सोचकर मन परेशान हो उठता था कि क्यों हर मन में कुंठा है ? हर चेहरे पर क्यों बदहवासी और दहशत है ? क्यों हर मन में अन्तर्विरोध है और हर चेहरा क्यों उदास है ? हर आँख के सामने अँधेरे की गहरी दीवार जिन्हें भेदना

असम्भव···किसी की भी दिशा स्पष्ट नहीं, कोई संकल्प और आस्था नहीं·· मन में आशंकित और मन से अस्वस्थ लोग मुझे भय होता था, क्या हमेशा ऐसा ही बना रहेगा ? क्या इस व्यवस्था में परिवर्तन नहीं होगा ? क्या दुनिया जिस तरह चल रही है, उसी प्रकार गतिशील रहेगी, अपरिवर्तनीय, रूढ़ और असम्भाव्य! ··· जब भी पढ़ने बैठता, ये सब प्रश्न पूरी तरह दिमाग को घेर लेते। मन में अकुलाहट और बेबसी थी, पर न कोई पथ था, न कोई दिशा। प्रत्येक दिशाओं में धुंध के गोले तैरते थे, जिनके पार देखना कठिन था।··· 'इस प्रकार आज के सारे नए लोगों की भाँति वह केवल चिन्तन के स्तर पर ही क्रान्तिकारी है, कर्म के स्तर पर नहीं। उसमें जितना आवेश और विद्रोह है, उतनी आस्था नहीं। उसमें न तो आत्मविश्वास है और न धैर्य।

लेकिन उसका चरित्र धीरे-धीरे द्वन्द्व में विकसित होता रहता है और परमात्मा बाबू उसे बारीक से बारीक बिन्दुओं पर प्रभावित करते हैं। राजू के चरित्र का यह विकास पूर्णतया मनोवैज्ञानिक है और अत्यन्त सूक्ष्म कलात्मकता से विकसित हुआ है। उसमें दूरदर्शिता नहीं है। भावावेश में जो उसके मन में आता है, बिना परिणाम की चिन्ता किए कर डालता है। उसे घर, समाज, धर्म और परम्परा की बिल्कुल परवाह नहीं रहती और नैतिक-अनैतिक पक्षों का सहारा लेकर अपनी मौसेरी बहन मीरा को लेकर प्रेम-पथ पर अग्रसर हो जाता है। यह प्रेम परम्परागत नहीं है, बल्कि सर्वथा नए सन्दर्भों में प्रस्तुत किया गया है। मीरा भी अपना उत्कट प्रेम प्रदर्शित करती है और वह भी इस सीमा तक कि उसके अन्तर्निहित स्वार्थ को राजू समझ नहीं पाता। मीरा की असली शकल सामने आने पर वह एक विद्रोही की तरह सोचता है, "जिसे हम न मानें, वे सम्बन्ध झूठे हैं। सम्बन्ध मन की गहराइयों से होते हैं, चली आ रही परम्पराओं से नहीं। परम्पराओं में कोढ़ लग गये हैं और उस कोढ़ का विष हमें जबर्दस्ती क्यों पिलाया जा रहा है ·" लेकिन राजू के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि सुरेश सिनहा ने उसे 'सिनिक' नहीं बनाया है।

असफल प्रेम के बावजूद न वह आज के फैशनपरस्त तरुणों की भाँति मदिरापान कर देवदास बनने की चेष्टा करता है न आत्म-हत्या की कायरता। वह दूसरों से इसीलिए भिन्न है क्योंकि 'कुछ करने का संकल्प है, उसे सौ मीराएँ आस्थाहीन नहीं बना सकतीं···मैं टूट सकता हूँ, बिखर सकता हूँ। कोई मुझे छल सकता है। हर कोई मुझे अकेला छोड़कर जा सकता है। पर मैं बार-बार खड़ा होने की कोशिश करूँगा। मुझे शताब्दियों तक जीना है और सब कुछ सहना है। उदासी मुझे घेर सकती है, खत्म नहीं कर सकती। व्यथा मेरे लिए पूजा है, पीड़ा जिन्दगी। मुझे एक विश्वास है, इनके बीच में हर बार खड़ा हो सकूँगा और अपने अस्तित्व की रक्षा करता रहूँगा उसे खण्डित होने से बचाता रहूँगा···" एक

अन्य स्थान पर वह कहता है, 'मैं मृत्यु से डरता नहीं था, पर मुझे यह कायरता प्रतीत होती थी कि मृत्यु को मैं मीरा जैसी लड़की के लिए अपनाऊँ। मृत्यु मेरे लिए निन्दनीय थी, क्योंकि वह जीवन को उसके अर्थ की अभिव्यक्ति देने म असमर्थ रहती है और इस अर्थ को सन्देह एवं रहस्य की स्थिति में छोड़ देती है। हर दिशाओं से यही चुभन महसूस होती थी कि मुझे अपने अस्तित्व की रक्षा करनी है क्योंकि इस बड़ी सृष्टि में मेरा अस्तित्व बस शून्य की भाँति है और यदि मैं मीरा के हाथों बिक गया, तो वह शून्य व्यापक हो जाएगा…" इसमें कोई शक नहीं कि राजू अपने अस्तित्व की रक्षा करने में सफल रहता है और पराजय, घुटन, तनाव तथा खिन्नता के बावजूद संघर्ष करता रहता है।

उसके चरित्र में पूर्ण आधुनिकता है। उसमें यह विश्वास है कि नए मूल्यों का निर्माण मनुष्य को स्वयं करना है, ईश्वर या किसी सत्ता को नहीं। वह अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए निरन्तर आकुल रहता है। उसमें आत्मसम्मान की भावना भी तीव्र है और वह किसी भी परम्परागत नैतिक मूल्यों को स्वीकारने को इसलिए नहीं प्रस्तुत है, क्योंकि उससे मनुष्य का स्वत्व खण्डित होता है। उसमें आधुनिकता के सभी तत्वों का समावेश हो गया है और यह उसका चरित्र ही है जो 'सुबह अँधेरे पथ पर' को क्लासिकल परम्परा में होते हुए भी आधुनिकतम प्रवृत्तियों से सम्पूर्ण करता है।

उसके चरित्रांकन में अस्तित्ववादी दर्शन का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। कहीं-कहीं उसका चिंतन अस्तित्ववादी विचारधारा के ही अनुरूप है। एक प्रसंग द्रष्टव्य है —'मुझे बराबर अहसास होता रहा, क्या मेरा अस्तित्व एक तिनके के बराबर है, जिसे कोई आकर उड़ा सकता है ? …मन में बार-बार यही सवाल उठता था कि मैं क्यों हूँ और अन्य चीजें अपना अस्तित्व क्यों रखती हैं ? अपने-आपको भ्रमित अवस्था में प्रत्येक दिशाओं से घिरे अँधेरे के परिवेश में पाता था और अपने आप में प्रत्येक बातों के स्पष्टीकरण की आवश्यकता अनुभव होती थी। अँधेरे में मुझे दिशा-निर्देशन की आवश्यकता थी। इसके लिए ईश्वर की ओर आँखें उठती थीं, पर अपने-आप झुक जाती थीं। मेरे लिए ईश्वर की मृत्यु हो चुकी थी। वहिन होती, तो मुझे कोसतीं और नास्तिक कहतीं, पर ईश्वर के प्रति अनास्था का भाव रखने के लिए मजबूर था। मन में उठता था कि ईश्वर उस आपत्ति सत्ता का नाम है, जिस पर हम अपनी जिम्मेदारियाँ डालकर भाग्यवादी और फलस्वरूप पलायनवादी बन जाते हैं। और इस विभ्रान्त स्थिति में यही बात उभरती थी कि मुझे इस भ्रम की स्थिति से बचना चाहिए, अपनी मानवीय स्थिति को तथा स्वतन्त्रता को भली-भाँति समझना चाहिए।" और राजू इस स्वतन्त्रता को गहराई से समझने का प्रयत्न भी करता है। इस स्वतन्त्रता अथवा शून्य की बात आज के दूसरे नए उपन्यासों की भाँति वह आधुनिकता के शून्यजाल के

रूप में नहीं करता। यह उसके लिए 'अंधेरे बन्द कमरे' के हरबंस या 'न आने वाला कल' तथा 'वे दिन' के नायकों की भाँति फैशन नहीं, जीवन की अनिवार्यता है।

इसे एक दूसरे रूप से भी प्रस्तुत किया जा सकता है। राजू के ऊपर अस्तित्व-वाद का प्रभाव अवश्य है, किन्तु यह उसे अनास्थावादी या निष्क्रिय नहीं बनाता। वह जीवन में बराबर सक्रियता की खोज में ही सलग्न रहता है। उसकी समस्या यह नहीं है कि मनुष्य को जाना कहाँ है ? उसकी समस्या है कि मनुष्य को करना क्या है ? वह सदैव कर्म की दिशा पाने की चेष्टा करता रहता है। राजू की यह चेष्टा सुरेश सिनहा की कुछ कहानियों, विशेषत: 'कई आवाजों के बीच' और 'हालत' में भी लक्षित होती है। उसकी आधुनिकता सतही नहीं, इसीलिए गहरी है, क्योंकि 'आपका आधुनिक बनना यथार्थ नहीं है, माँ का बर्तन माँजना और पिताजी का कठिनाई से साँस लेते हुए थैलियाँ बनाना यथार्थ है, जिसकी बुनियाद पर खड़े होकर आप इतराते हैं···'' यह कथन आज की सारी तथाकथित फैशन-परस्त आधुनिकता का पर्दाफाश करता है, जिसके पीछे बिना विवेक संज्ञा के हमारे अधिकांश नए लेखक बेतहाशा भाग रहे हैं।

राजू का दृष्टिकोण इसके सर्वथा विपरीत है। वह सायास रूप में आत्म-केन्द्रित बनने की चेष्टा नहीं करता, वरन् अपनी वैयक्तिकता की रक्षा करते हुए भी अपने समय की अनिवार्यता से मुख नहीं मोड़ता। वह सोचता है, "बिना क्रान्ति के कहीं कोई नई व्यवस्था आई है ? और जब इसका उत्तर नकारात्मक है, फिर क्रान्ति से इतनी घबराहट क्यों है ? रूढ़ियों, अन्धी, सड़ी-गली परम्पराओं, शोषण, असमानता एवं अत्याचार की चुनौती का एक ही उत्तर है क्रान्ति।···इन हथकण्डों, नारों और चपलों से न कोई व्यवस्था परिवर्तित होती है, न कोई समाज प्रगतिशील बनता है·· मैं कहता हूँ, भागो नहीं, बदलो इस शक्तिहीनता को।···यह जो कुछ है, महज एक मृगतृष्णा है, छलावा है, जिसमें हम दूसरों को छलते हैं और सब कुछ जानते-बूझते अपने-आपको भी छलते हैं। छलने और बहकने की यह स्थिति विनाश की है, निर्माता की नहीं···" यह कथन एक प्रकार से अनास्थावादी समूची नई पीढ़ी पर नईपीढ़ी के ही एक समर्थ लेखक का कठोर सघात है, व्यंग्य है।

यह कैसी विडम्बना है कि जहाँ आज की नई पीढ़ी अपने यथार्थ और समय की कटुता को झुठलाकर अस्तित्व की झूठी --भूल-भुलैया में पड़कर सेक्स तथा स्त्री-पुरुष की समस्या को 'सुलझाने' में लगी हुई है और स्वयं विघटित हो रही है वहाँ 'सुबह अंधेरे पथ पर' जैसा सशक्त प्रतिनिधि उपन्यास नई पीढ़ी के ही राज को प्रस्तुत करता है और यह स्वस्थ दृष्टिकोण ही सुरेश सिनहा को उनकी समूची पीढ़ी में न केवल गरिमामय विशिष्टता प्रदान करता है वरन ऊपर उठाकर कथा-साहित्य की [illegible] से सम्बद्ध भी करता है इस [illegible] मे यह कथन

अपने दूसरे समकालीन लेखकों को भी ऊपर उठाकर परम्परा से सम्बद्ध होने का जैसा आह्वान है, "धीरे-धीरे लगने लगा, जाने कितनी खिड़कियों से दिखने वाले आसमान के ये छोटे-छोटे टुकड़े अपने-आप में अपूर्ण है अधूरे है। उनके न कोई अर्थ है न कोई संज्ञा। उन्हे पूर्ण बनाने के लिए और अर्थ की गरिमा देने के लिए इन सलाखों को तोड़कर बाहर निकलना होगा, अपनी भटकी दिशाओं को स्वय पाना होगा और दिशाहारा की भाँति भटकने के बजाय अपने अन्दर पूर्णता उत्पन्न करनी होगी ..."।

राजू का जीवन-पथ इसी पूर्णता को प्राप्त करने में ही निर्मित होता है। अन्त मे उसका यह सोचना इसी सन्दर्भ में सार्थक है कि "आदमी चाहे तो क्या नहीं कर सकता ? वह जिन्दगी का रुख बदल सकता है। अभाव और घुटन की परिस्थितियों मे भी ऊपर उठ सकता है। जीवन में सघर्ष किसके नही है ? कौन दुःखी नही है ? यह विपदा कोई सरकार नहीं मिटाएगी। कोई राजकीय व्यवस्था इस अवसादपूर्ण स्थिति से मानव मात्र को मुक्ति नहीं देगी। नैराश्य एवं अँधेरे पथ पर भटकाव से किसी की बहबूदी नहीं होगी। परिवर्तन आदमी करेगा, सरकार नही। सरकारें आती है, जाती है। अधिकार का लोभ और मद भरा अहंकार आदमी में कलुष भरता रहता है, पर आदमी की शक्ति, उसकी सक्षमता, निष्ठा और आस्था कभी नहीं मरती। आदमियत है कि आदमी अपनी असमर्थता मे सक्षमता उत्पन्न करे" इस प्रकार वह आत्म संघर्ष से ही यह अनुभव प्राप्त करता है और उसके अँधेरे पथ पर सुबह होती है। उसकी जीवन्तता अन्त में कर्म की दिशा में ही प्रमाणित होती है।

राजू की माँ का चरित्र पूर्ण मनोवैज्ञानिक है। उसका चरित्र-चित्रण विश्लेषणात्मक ढंग से न होकर नाटकीय ढंग से हुआ है और उसके अन्तर्मन के उद्घाटन में विवशता एवं खिन्नता की अभिव्यक्ति मे सूक्ष्म कलात्मक संकेत मात्र दिए गए हैं। लेकिन उपन्यास में सबसे दुर्बल पक्ष कीर्ति और हरबंस का चरित्र है। इन दोनों में अपार सम्भावनाएँ थीं, जिनका उपयोग जाने क्यों उपन्यासकार ने नहीं किया है। वे अन्त तक अस्पष्ट रहते हैं तथा उनके चरित्र अन्तर्विरोधों से भरे हुए हैं। डॉ० रामसागर दुबे का चरित्र भी यों अपूर्ण है, पर कीर्ति-हरबंस की तुलना में अधिक स्पष्ट है तथा प्रभावित करता है। राजू के पथ प्रशस्त करने मे परमात्मा बाबू के साथ-साथ वे भी एक बड़ी भूमिका निभाते है। मीरा तथा सेठ बल्लभदास वर्गगत पात्र हैं और जिन वर्गों का वे प्रतिनिधित्व करते है, उनकी जातीय विशेषताएँ स्पष्ट करने में लेखक को सफलता प्राप्त हुई है।

यह उपन्यास आत्मकथात्मक शैली में है, किन्तु लेखक की सबसे बड़ी सफलता इस बात मे है कि यह होते हुए भी वह व्यक्ति सीमित नहीं हो पाता और उसके परिवेश का विस्तार व्यापक से होता जाता है छोटे-छोटे खण्ड चित्रों

को भी इतना सशक्त एवं सुसम्बद्ध रूप से प्रस्तुत किया गया है कि वह आज के पूरे निम्न मध्य वर्ग की जिन्दगी का रोजनामचा बन जाता है। यद्यपि कहीं-कहीं विवरणात्मकता इतनी मुखर हो गई है कि वे प्रसंग अत्यन्त नीरस हो गए हैं, किन्तु तुरन्त ही कोई ऐसी मार्मिक एवं सशक्त घटना आ जाती है, जो उस नीरसता का आभास स्थायी नहीं होने देती। इस प्रकार इस उपन्यास की सीमा भी उसका कलात्मक वैभव बन जाती हैं और यह कम महत्त्वपूर्ण सफलता नहीं है। 'सुबह अँधेरे पथ पर' की भाषा भी प्रभावशाली एवं प्रवाही है। सुरेश सिनहा ने गद्य में भी कविता करने की चेष्टा की है, इसीलिए गद्य की यह काव्यात्मकता अत्यन्त नुकीली एवं ओजपूर्ण है। यह एक प्रकार की चित्रात्मक भाषा है, जो हमारे सामने शब्दों संकेतों के माध्यम से उनके जीवन्त चित्र मुखर कर देती है।

'सुबह अँधेरे पथ पर' में इस प्रकार चिन्तन-धाराओं एवं सम्प्रदायों की उपेक्षा न करते हुए भी मनुष्य को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। इसमें मानव-सत्य को उसकी समग्रता के साथ ग्रहण करने की चेष्टा की गई है। सुरेश सिनहा की कला-दृष्टि में ऐसी व्यापक सहानुभूति एवं सहृदयता है कि विगत दो दशाब्दियों का समूचा युग हमारे सामने साकार हो जाता है, जिसमें अनेक विचारधाराओं का तीव्र घात-प्रतिघात एवं मूल्यों की ज़बर्दस्त टकराहट है। जो भी पात्र इस उपन्यास में लिए गए हैं, लेखक ने उन्हींकी परिस्थितियों में डूबकर आत्म साक्षात्कार करने की चेष्टा की है और उन्हींके आत्मान्वेषण के दर्द को अपनी आत्मीयता प्रदान कर उनकी आत्मोपलब्धि के सन्तोष में तुष्ट होकर उनकी मानवीयता को उद्घाटित किया है, कहीं कुछ भी आरोपित नहीं किया गया है। सभी कुछ परिस्थितियों से स्वतः प्रसूत है इस उपन्यास की यह बहुत बड़ी विशेषता है। लेखक की यह कला-दृष्टि सर्वथा नई है, जो मनुष्य की चेतना के विविध आयामों में और उसकी अदम्य अपराजयता में पूर्ण विश्वास रखती है, जिसके कारण ही 'सुबह अँधेरे पथ पर' में व्यापक दृष्टिकोण, उदारता और सूक्ष्म मर्म ग्राहिता उभर आई है, जिससे इस उपन्यास का मानवीयपक्ष अत्यन्त प्रबल बन जाता है और पात्रों में बड़ी सजीवता एव आत्मबोध का विकास होता है।

'सुबह अँधेरे पथ पर' आधुनिक जीवन की विराटता के अंकन के साथ यथार्थ परिवेश में महत्वहीन मनुष्यों को सही ढंग से पहचानने का महान प्रयास है, जिसमे सुरेश सिनहा को आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त हुई है। इस उपन्यास के नायक परमात्मा बाबू लघुता मे विराटता की उपलब्धि है। उपेक्षणीय व्यक्ति की यह मर्यादित प्रतिष्ठा एक नई दिशा का संकेत करती है। यहाँ परिवर्तित मूल्यों को यथार्थ की गरिमा प्राप्त हुई है तथा उपेक्षित मर्यादाएँ एवं जीवन के बदलते चेहरे व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखे गए हैं कुल मिलाकर 'सुबह अँधेरे पथ पर' —— प्राप्ति के बाद के हिन्दी उपन्यासों की कुछ इनी-गिनी [illegible] में [illegible] है

नारी की नई अर्थवत्ता : 'रुकोगी नहीं, राधिका ?'[1]

यह एक विडम्बना है कि हिन्दी में कथा-लेखिकाएँ बहुत आगे नहीं जा पातीं। उनकी अनेक सीमाएँ हो जाती हैं। कभी पारिवारिक, कभी प्रतिभाशून्यता और कभी स्वयं वही विसंगतियाँ, जिनका चित्रण वे अपनी रचनाओं में करती हैं। स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद हिन्दी साहित्य में उषा प्रियंवदा, मन्नू भण्डारी तथा शिवानी—यही तीन नाम किंचित् सामने आए हैं। यों छिट-पुट और नाम भी यदा-कदा सुनाई पड़ते हैं, पर या तो उन्हें जानबूझकर मनोरंजनार्थ उछाला गया है या वे अभी अपने कैशोर्य को पार नहीं कर सकी हैं। साहित्यिक मूल्यों की दृष्टि से उनकी चर्चा यहाँ अप्रासांगिक है। मन्नू भण्डारी ने 'एक मुस्कान' में सहयोग देकर अपनी औपन्यासिक प्रतिभा का परिचय अवश्य दिया था, पर स्वतन्त्र रूप से कोई उपन्यास उन्होंने नहीं लिखा, यह विस्मय है। शिवानी में लोकप्रियता के सभी तत्व हैं, पर न तो उनके पास जीवन दृष्टि है और न समस्याओं की तह में पहुँचने की कोई अन्तर्दृष्टि। उनमें बार-बार एक विशेष प्रकार की रोमानी भावुकता द्रष्टव्य होती है, जो कहीं-कहीं बड़ी लिजलिजी-सी प्रतीत होने लगती है। एक वाक्य में कहा जाए तो शिवानी फार्मूलाबद्ध कथानक लेकर चमत्कार उत्पन्न करने मे सिद्धहस्त हैं। उनके 'कृष्णकली', 'भैरवी' तथा 'चौदह फेरे' उपन्यास इसके प्रमाण हैं।

उषा प्रियंवदा का स्वर इन सबसे अलग है। आज के नारी जीवन की विसंगतियों को उन्होंने बड़ी गहनता से आत्मसात् किया है। परिवर्तित सन्दर्भों, नई परिस्थितियों तथा उलझनपूर्ण मन स्थितियों में नारी के मिसफिट होने की प्रवृत्ति और आधुनिकता तथा भारतीय संस्कारों के मध्य सूक्ष्म द्वन्द्व को उन्होंने अपने दूसरे उपन्यास 'रुकोगी नहीं···राधिका ?' (१९६७) में बड़ी सफलता से चित्रित करने का प्रयास किया है। यह द्वन्द्व उनके पहले उपन्यास 'पचपन खम्भे लाल दीवारें' में भी लक्षित होता है, किन्तु उसका परिवेश इतना व्यापक नहीं है, जितना रुकोगी नहीं राधिका ? में

१ उषा प्रियंवदा 'रुकोगी नहीं राधिका (१९६७ अक्षर प्रा० लि० दिल्ली

पूर्व-स्वतन्त्रता काल में यद्यपि नारियों की स्थिति गांधीजी के प्रयत्नों और स्वयं उनकी अपनी चेतना के फलस्वरूप परिवर्तित होनी प्रारम्भ हो गई थी, किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्त करने के पश्चात् इस स्थिति में अभूतपूर्व बदलाव आया। स्त्रियों के लिए जो नैतिक मर्यादा पहले अनिवार्य समझी जाती थी, वह विभाजन के एक ही झटके में टूटकर बिखर गई और सारी संस्कारशील मान्यताएँ एक चुनौती बन गईं। उन आधुनिक मूल्यों की तुलना में, जो नई परिस्थितियों मे उदित हो रही थी। विभाजन का सबसे भयानक शिकार कदाचित् स्त्री जाति ही बनी। जितनी निर्ममता एवं बेशर्मी से उसके साथ दुर्व्यवहार किया गया, वह न केवल स्त्री जाति के लिए ही अपमानजनक बात थी, वरन् समूची मानवता के लिए लज्जा एव ग्लानि की बात थी। इसकी प्रतिक्रिया होनी स्वाभाविक थी। नारियों के मन मे स्वभावतः यह प्रश्न उठा कि उनकी सुरक्षा जब समाज नहीं कर सकता, शासन-तन्त्र नहीं कर सकता तो वे किसकी आश्रिता बनी रहें ? नैराश्य के इस वातावरण मे उनके अन्दर एक व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का उभरना स्वाभाविक ही था। इसने उनके व्यक्तित्व को निश्चय ही एक नया आयाम दिया, जिसने निश्चय ही मानव सम्बन्धों की नई व्याख्या प्रस्तुत की और इस सम्बन्ध मे हमारे जाने-पहचाने सन्दर्भ सहसा ही बदल गए।

अभी तक व्यक्तित्व की विराटता एवं विशिष्टता का जो सर्वाधिकार पुरुषो के पास था, वह सही अर्थों में नारियों तक भी पहुँचा और पहली बार इनके स्वतन्त्र-चेता मानस एवं स्वाधीन व्यक्तित्व की नई प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर हुईं। सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं राजनीतिक पुनर्जागरण के इस काल मे नारियाँ कही भी 'कोने में पड़ी रहने वाली मैले कपड़ों की गठरी' नही सिद्ध हुई और प्रत्येक क्षेत्र में उनका स्पष्ट योगदान सामने आया। इससे मानव-मूल्यों को नई अर्थवत्ता प्राप्त हुई और दोनों वर्गों के बीच समानता की भावना सर्वथा नये परिप्रेक्ष्य में उपस्थित हुई।

इस परिवर्तन ने जहाँ स्त्री जाति को दृष्टि की नई संज्ञा प्रदान की, वही कई नई समस्याएँ भी उत्पन्न कर दीं। कहना यह चाहिए कि यह परिवर्तन इतना आकस्मिक एवं अभूतपूर्व था कि जन-मानस (विशेषतया पुरुष वर्ग) इसके लिए तैयार न था और न उसके लिए कोई उदारचेता प्रौढ़ धरातल ही। नारियाँ एकदम से परिवर्तन चाहती थीं और पुरुष वर्ग (या समाज) इस नई परिवर्तनशीलता को गले के नीचे उतारने को तैयार न था। यहाँ प्रश्न रूढ़ियों और संस्कारो का भी था तथा उन नैतिक मर्यादाओंका, जो समय की शिला पर सहज अपना स्वरूप परिवर्तन नहीं चाहती थीं। यह दोनों के बीच संघर्ष की भूमिका प्रस्तुत करने के लिए पर्याप्त था।

उषा प्रियंवदा का यह उपन्यास संघर्ष की वही भूमिका उभारता है। इसमें

अक्षय, मनीश, डैन और पापा जैसे वीर पुरुषों के सन्दर्भ में राधिका का व्यक्तित्व प्रस्तुत किया गया है। राधिका स्वतन्त्र व्यक्तित्व वाली युवती है। वह जीवन में प्रत्येक स्तर पर स्वाधीनता चाहती है, लेकिन इस दिशा में पहला आघात उसे पापा से ही प्राप्त होता है। डैन विदेशी पत्रकार है और भारत प्रवास में राधिका के निकट सम्पर्क में आता है। वह डैन के साथ विवाह करके विदेश जाना चाहती है लेकिन पापा को इसमें आपत्ति होती है। निश्चय ही यह भारतीय आचार-व्यवहार, संस्कृति एवं परम्परा से सम्पृक्त होता है। इसे राधिका अस्वीकार कर देती है। वह जिस वातावरण में पली थी, उसमें किसी प्रकार का बन्धन या अपनी मनोवांछा को सीमित करना उसे सह्य न होता। वह पापा की बात को अस्वीकृत तो कर देती है, लेकिन उनका विशालकाय व्यक्तित्व उसके भीतर इतने गहन रूप में व्याप्त हो जाता है कि वह कभी उनसे मुक्त नहीं हो पाती और निरन्तर उसके अन्तरमन में इस प्रकार का संघर्ष चलता रहता है।

डैन भी उसके प्रति निष्ठावान् नहीं बना रह पाता। यद्यपि लेखिका ने इसे बहुत गहराई से या मनोवैज्ञानिक धरातल पर स्पष्ट करने की चेष्टा नहीं की है, फिर भी लगता है कि डैन को राधिका का प्रेम नहीं, पिता जैसी भावना प्राप्त हुई, जिसने उसे उद्वेलित कर दिया था। स्पष्ट था कि राधिका के इस असमंजस के बीच न वह अपने को अच्छा पति ही सिद्ध कर सका और न पिता ही। एक स्थान पर वह कहता भी है, "तुम्हें नयी तरह से एडजस्ट करने में समय लगेगा, मैं जानता हूँ, मुझसे छूटने पर दुःख भी। पर तुममें युवावस्था की लचक है और तुम शीघ्र ही इस दुःख पर विजय पा लोगी। मैं तुम्हें रिजेक्ट नहीं कर रहा हूँ, मुक्त कर रहा हूँ। तुम्हें अपने साथ चलने के लिए इस कारण नहीं कहता, क्योंकि तुमने कभी, एक क्षण के लिए भी प्यार नहीं किया। राधिका, तुम मुझमें अपना पिता ढूंढ़ रही थीं, वही पिता जिसे त्रास देने के लिए तुम मेरे साथ चली आई थीं। पर मैंने तुम्हारे पिता की जगह स्थापित नहीं होना चाहा, मैं तो स्वतन्त्र व्यक्तित्व हूँ।"""मैं तुममें अपना खोया यौवन ढूँढ रहा था। अपनी पत्नी के छोड़कर चले जाने की कड़वाहट धोना चाहता था, पर शायद हम दोनों ही सफल नहीं हुए।" ठीक यही बात एक अन्य स्थान पर मनीश भी कहता है, 'यानी कि तुम पुरुष में प्रेमी या पति नहीं ढूँढ़ती, पिता ढूँढ़ती हो। जीवन के एक संघर्षमय क्षण में डैन ने तुम्हें संभाला, तुम कृतज्ञता में उसके साथ रहने लगीं, अब अक्षय देख-भाल कर रहे हैं, तो शायद उनसे विवाह कर लो। क्योंकि तुम जीवन में लंगर चाहती हो, उसे पूरी तरह स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं हो।' निश्चय ही यह बात आधुनिक जीवन मूल्यों से सम्बन्धित है और आज की भारतीय नारी की वास्तविक स्थिति को रूपायित भी करती है।

आज की भारतीय नारी जीवन में सुरक्षा चाहती है अपनी तमाम आधु

निकता के बावजूद। यही नहीं, विदेशी स्त्रियों में आज भारतीयों के साथ विवाह की जो एक विशेष ललक है, उसका कारण भी यही सुरक्षा की भावना है। विदेशों मे पग-पग पर साधारण-से साधारण बात को लेकर जिस प्रकार तलाक़ हो रहे हैं, वहाँ विवाहित जीवन एक अत्यन्त हास्यास्पद बात हो गई है। वहाँ की नारी भी समझने लगी है कि उन्हें वहाँ के पुरुष की उपेक्षा कदाचित् एक भारतीय अधिक सुरक्षा दे सकता है। डैन की एक पत्नी स्वयं छोड़कर चली गई और राधिका को उसने ही सहजभाव से 'मुक्त' कर दिया। राधिका के लिए यह कटु अनुभव था और इसने उसकी पहले की सभी आस्थाओं और मान्यताओं को झकझोर दिया। वह स्वयं विदेश से लौटने के पश्चात् कहती है, "मेरे जीवन में प्ले-ब्वाय के लिए स्थान नहीं। मैं संगी चाहती हूँ, जिसमें स्थिरता और औदार्य हो, जो मुझे मेरे सारे अवगुणों सहित स्वीकार कर ले। मेरे अतीत को झेल ले।' राधिका के सामने यह एक विचित्र स्थिति होती है, जिसमें वह किसी भी मूल्य को पूरे आत्मविश्वास के साथ आत्मसात् नहीं कर पाती।

इसे इस प्रकार भी कहें कि ठीक यही स्थिति आज समूचे मध्यवर्ग की नारी के सामने है। उसके सामने दो परस्पर अन्तर्विरोधी दिशाएँ हैं—एक भारतीय परम्परा और संस्कृति से जुड़ी हुई, दूसरी पश्चिमी संस्कारों से जुड़ी हुई। हमारा मन हमेशा दूर की चीजों के प्रति स्वभावतः ललकता रहता है। जब हम अपने देश में होते है, तो हमारा मन पश्चिमी संस्कृति के प्रति मोह-ग्रस्त रहता है। जब वहाँ जाते है तो लगता है कि इससे अपनी पूरी समर्थता के साथ साक्षात्कार का प्रयास करने के बावजूद उसके साथ अपना सामजस्य हम स्थापित कर ही नही सकते। और जब स्वदेश लौटते हैं, तो प्रतीत होता है कि हम यहाँ की वास्तविकता से इतने दूर जा पड़े हैं कि कदाचित् अब यहाँ भी सामंजस्य स्थापित करना दुर्लभ होगा। यही संघर्ष हमें जीवन-भर मथता रहता है। राधिका के इसी अन्तर्द्वंद्व को लक्षित करके मनीश कहता है—"जब हम अपना देश छोड़कर बाहर जाते हैं, तो पहले छह महीने हम एक कल्चरल शौक के दौरान बिताते हैं, जब कि हर कदम पर हमें अपना देश, अपनी संस्कृति ऊँची दिखायी देती है। फिर हम उस देश में रहने के आदी हो जाते है। दो साल, ढाई साल, उस नये देश में रहकर उसके रीति-रिवाज के आदी होकर हम अपने देश में वापस आते हैं, तो हमें एक धक्का दुबारा लगता है, कल्चरल शाक।" इसी दुविधा और विकल्प में राधिका भी जाती है, इसे अन्तर्विरोध में जीना पड़ता है और उसका मानसिक संघर्ष त्वरित गति से चलता रहता है।

वह मनीश तथा अक्षय को लेकर कभी भी एक निश्चयात्मक दृष्टिकोण नहीं बना पाती। यह बात बड़ी विचित्र लगती है कि राधिका जब जीवन में एक किनारा तथा सुरक्षा चाहती है, तो वह मनीश को सहसा ही अप्रत्याशित रूप से

क्यों चुन लेती है, जब कि वह जानती है कि वह 'प्ले-ब्वाय' से कम नहीं है और हर क्षण लड़कियों के सम्पर्क में रहना उसकी आदत है। इसकी तुलना में अक्षय है, जो उसके प्रति हर दृष्टि से उपयुक्त है, इसकी देखभाल करता है, उसे सरक्षण देता है और जिस पर विश्वास करके वह उसे अपना शरीर भी देती है। उसे न स्वीकार कर वह अपनी अनिश्चयात्मकता का परिचय देती तो है, लेकिन वह एक प्रकार से अपने पापा को दुबारा 'शाक' देती है, क्योंकि उसे पता है कि वे मनीश जैसे व्यक्ति को कभी नहीं चुनेंगे। इस प्रकार वह उन्हें पुनः जीवन में तिरस्कृत कर देती है।

निःसंदेह उषा प्रियंवदा ने इस उपन्यास में बड़ी गहरी समस्या को उठाया है और उसे व्यापक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। पर उन्होंने जिन पात्रों को चुना है, उनका निर्वाह ठीक ढंग से करने में असमर्थ रही हैं। पुरुष पात्रो में केवल पापा का चरित्र ही बड़ा मार्मिक बन पड़ा है और वह प्रभावित भी करता है। लेकिन डैन, अक्षय तथा मनीश तीनों ही एक प्रकार से केरीकेचर बन गए हैं। यद्यपि तीनों अपने-अपने स्तर पर अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व की घोषणा करते हैं, लेकिन अगत्या वे राधिका के चारित्रिक विकास की दिशा में निमित्त मात्र ही बनकर आते हैं। उपन्यास की यह बहुत कमी है, जो उसे विविध जीवन स्तरों पर स्थापित करने में असमर्थ रहता है।

इसके अतिरिक्त यदि लेखिका ने भारतीय दृष्टिकोण से इस उपन्यास में कथानक का निर्वाह किया होता, तो कदाचित्, वह हमारे अधिक निकट होता। ऐसा लगता है कि लेखिका पर अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन पूर्णतया हावी रहता है और प्रत्येक पात्र में एक विचित्र प्रकार की अनास्था, भय, संत्रास तथा आतंक बना रहता है, तब भी वह अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा इस प्रकार करता रहता है, जैसे उनकी यही एकमात्र नियति है। इससे किसी भी पात्र में न कोई आस्था है, न संकल्प-जिजीविषा ही। उनमें परिस्थितियों से साक्षात्कार का, उनसे उबरने या संघर्षशीलता का भी अभाव है, जो उपन्यास को बड़ा सीमित बना देता है। लेखिका का जीवन के प्रति एकांगी दृष्टिकोण और उपन्यास शिल्प की यह दुर्बलता खटकती अवश्य है और उपन्यास के सामने कई सीमाएँ रेखांकित कर देती हैं, पर इससे उपन्यास का महत्व कम नहीं हो जाता। वह आज की भारतीय नारी की दुविधा और निस्तार तथा उसकी आत्मा की छटपटाहट को उभारने में सफल है, यह असंदिग्ध है।

अधूरेपन की प्रक्रिया और सीमित परिवेश

अब तक की कतिपय प्रमुख उपलब्धियों पर विचार करने के पश्चात् हिन्दी उपन्यास साहित्य का स्वरूप बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है। ये उपलब्धियाँ भी किन्हीं सीमाओं में है। विगत सत्तर-अस्सी वर्षों में हिन्दी उपन्यास साहित्य की यह विकास-यात्रा बहुत असंतोषजनक नहीं है, क्योंकि जन्म भले ही 'देवरानी-जेठानी' या १८७७ में 'भाग्यवती' से हुआ हो, हिन्दी उपन्यासों का वास्तविक आविर्भाव तो प्रेमचन्द के आगमन के बाद ही माना जाएगा। इन कृतियों के अलावा निश्चय ऐसी कुछ और कृतियाँ हैं, जो विशिष्ट उपलब्धियों की सम्भावनाओं से पूरित अवश्य है, पर उनमें कहीं-न-कहीं इतना अधिक अधूरापन रह गया है या इतना सीमित परिवेश लिया गया है या आधुनिकता के चक्कर में पड़कर जीवन का विघटन इतने एकांगी ढंग से चित्रित हुआ है कि वे महत्वपूर्ण तो बन पाई हैं, किन्तु उपलब्धियाँ नहीं बन पाई हैं। कुछ ऐसी कृतियाँ भी है जिनमें तमाम विशेषताओं के बावजूद कलात्मक संरचना का इतना अभाव है कि वे द्वितीय श्रेणी के उपन्यासों के लिए 'कच्चा माल' का स्वरूप भी नहीं ले सकी हैं।

मोहन राकेश का 'अंधेरे बन्द कमरे' (१९६१)[1] आधुनिक जीवन की विसंगतियों पर आधारित है। लेखक ने स्वयं बिना उत्तर दिए प्रारंभ में तीन प्रश्न उठाए हैं—क्या यह उपन्यास दिल्ली के जीवन का रेखाचित्र है? क्या यह पत्रकार मधुसूदन की आत्मकथा है? क्या यह पति-पत्नी के आन्तरिक द्वन्द्व की कहानी है? स्पष्ट है कि उपन्यास पढ़ते समय पाठक के मन में यह तीनों प्रश्न घूमते रहते हैं, पर अन्त में उसे निराश होना पड़ता है। यह न तो मधुसूदन की आत्मकथा ही है और न दिल्ली के जीवन का सही चित्र ही। यह आधुनिक पति-पत्नी के आन्तरिक द्वन्द्व को भी ठीक ढंग से सही परिप्रेक्ष्य में उपस्थित नहीं कर पाता, हालाँकि अगर राकेश सिर्फ इसी एक पक्ष को उठाकर उसका पूरी अनुभूति, तन्मयता एवं सहृदयता से तटस्थ चित्रण करते, तो कदाचित् यह अपने ढंग का अकेला उपन्यास होता और आधुनिक मानव सम्बन्धों के नए मूल्यों को

---

१. मोहन राकेश : 'अंधेरे बन्द कमरे' (१९६१), राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०, दिल्ली

स्थापित करता। यह एक विडम्बना है कि इस उपन्यास का अधिकांश भाग हरवंस-नीलिमा के आत्म-संघर्ष ने घेरा है, लेकिन उसके बाद भी कोई समग्र चित्र सामने नहीं आता। सब कुछ बड़ा धुँधला-धुँधला नजर आता है। कहीं-कहीं तो ऐसा दृष्टिगत होता है, जैसे राकेश उपन्यास के पात्रों का निर्वाह नहीं, कोई कैफियत दे रहे हों। यही उपन्यास को अपूर्ण बनाता है। लगभग यही कमी उनके दूसरे उपन्यास 'न आने वाला कल' (१९६८) में भी लक्षित होती है, जो पति-पत्नी के तनावों और अलगाव पर आधारित है, पर हमारे सामने कोई स्पष्ट तसवीर रखने में असमर्थ है।

हरबंस और नीलिमा का जीवन एक विडम्बना है। दोनों में बड़े-बड़े सपने और हौसले हैं, लेकिन उनकी ग्रन्थियाँ बड़ी रहस्यमय हैं। हरवंस अपनी पत्नी को आगे बढ़ाना चाहता है और एक बड़ी स्टेज आर्टिस्ट बनने के लिए उकसाता रहता है। उसमें किसी हद तक बचकानी भावुकता भी है। नीलिमा के सफल स्टेज आर्टिस्ट बनने के साथ ही उपन्यास का मुख्य द्वन्द्व प्रारम्भ होता है। नीलिमा अपनी लगन और परिश्रम से ही नृत्य के क्षेत्र में सफल होती है, लेकिन उसकी सफलता आधुनिक नारी की नियति के सामने एक बहुत बड़ी चुनौती उपस्थित करती है, वह है नारी की स्वतन्त्रता और उसका अपना निजी व्यक्तित्व। सफलता प्राप्त करने के बाद हरबंस न तो उसकी स्वतन्त्रता ही बर्दाश्त कर पाता है और न उसके निजी व्यक्तित्व का विकसित होना ही उसे पसन्द है। इसका परिणाम यह होता है कि एक बड़ी भीड़ और महानगर के अपार प्रशंसकों के बीच रहकर भी वह वैयक्तिक स्तर पर अकेली पड़जाती है और उसके जीवन में रिक्तता की अनुभूति बढ़ती जाती है। उस जैसी भावुक स्त्री के लिए यह स्थिति पर्याप्त रूप से भयावह है और वह निरन्तर स्नेहशीलता को खोजती रहती है। एक ओर उसकी अपनी आकांक्षाएँ एवं सपने हैं, दूसरी ओर मानवीय सम्बन्धों की शून्यता एवं स्नेहशीलता का अभाव है, जिनमें बराबर टकराहट होती है।

हरबंस कला के क्षेत्र में नीलिमा के प्रवेश से दो कारणों से परेशान है। एक तो कला का संसार ऐसा है, जो घृणित है और कोई सच्चा कला-पारखी नहीं है। 'जो लड़का आजकल हिन्दी पत्रिका के लिए समीक्षाएँ लिखता है वह किसी जमाने में मेरी क्लास में पढ़ता था। क्लास के सबसे नालायक लड़कों में था। उससे शेक्सपीयर की हिज्जे तक तो ठीक से लिखी नहीं जाती थी और आज उसकी भी गिनती यहाँ के कला समीक्षकों में है। इसके साथ ही, 'कला निकेतन के सेक्रेटरी ...का सारा व्यक्तित्व उसकी तेज आँखों में समाया हुआ था। वह बात करता था तो उसके शब्दों का अर्थ उतना महत्त्व नहीं रखता था जितना उसकी आँखों का भाव, और उस भाव का कुल मिलाकर एक ही अर्थ निकलता था। वह हर आदमी को अपनी आँखों से इस तरह टटोलता था जैसे वह इन्सान न होकर एक

उपयोगी चीज़ है, और वह यह निश्चय करना चाहता हो कि अपने लिए वह उस चीज का क्या और कितना उपयोग कर सकता है।" यह वह संसार है, जहाँ नीलिमा ऊँचाई पर पहुँचना चाहती है और अपनी सारी आकांक्षाओं को पूर्ण होते देखना चाहती है। लेकिन हरबंस के मन में बार-बार प्रश्न उठता है, "क्या यही लोग हैं जो अपने को कला का उपासक कहते हैं? क्या कला की सारी साधना के पीछे इतने छोटे-छोटे उद्देश्य छिपे रहते हैं? क्या कला की उपासना मनुष्य के मन को उज्ज्वल और विशाल नहीं बनाती? क्या यही वह चेतना है जिसे कलाकार की महान् चेतना कहते हैं? यही दृष्टि है जिसे कलाकार की सौन्दर्यदृष्टि कहते हैं? सबके कितने छोटे-छोटे स्वार्थ हैं।" वह फिर पूछता है, "क्या यही वह उपलब्धि है जिस तक पहुँचने के लिए उसने नीलिमा को अपने माध्यम के रूप में चुना था और जिसके लिए वह अपने मन के सारे असन्तोष पर पर्दा डालकर इस अपरिचित दुनिया में चला आया है? उसे लगता है कि एक जाल में वह उलझ गया है। जाल बहुत गन्दा भी है।" हरबंस की यह छटपटाहट केवल कला-संसार के अभावों को लेकर नहीं है। उसकी जड़ें और भी गहरी हैं। यह एक महत्वपूर्ण सामाजिक प्रश्न है। जिसे राकेश ने या तो दृष्टि से ओझलकर दिया है या अपनी कैफियत देने में इस ओर ध्यान देने का उन्हें अवकाश ही नहीं मिला है।

वह स्थिति है कि आज की तमाम सारी आधुनिकता के बावजूद नारी की वास्तविकता क्या है? और इस प्रगतशीलता के दौर में भी पुरुष की मनोवृत्ति कितनी बदली है। यह नारी की मुक्ति के लिए छटपटाहट और सफेदपोशी में पुरुष की पाशविकता का नया रूप धारण करना भी है, जिसकी अभिव्यक्ति के लिए अधिक गहरी अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता थी, और यही राकेश सफलता नहीं प्राप्त कर सके हैं। इसके लिए विराट सामाजिक धरातल और नई प्रवृत्तियों के घात-संघात की व्यापकता की आवश्यकता थी, जिसकी उपेक्षा कर राकेश ने नितान्त वैयक्तिक धरातल पर नीलिमा और हरबंस के अन्तर्द्वन्द्व को अस्तित्ववाद के सूत्रों का सहारा लेकर स्थापित कर दिया है, जो उतना गम्भीर अर्थ नहीं दे पाता, जितना देना चाहिए था। वे दोनों अपने अस्तित्व के लिए व्याकुल रहते है। नीलिमा स्वतन्त्रता चाहती है और हरबंस अपना अधिकार। दोनों कहीं समझौता नहीं कर पाते, इसीलिए बार-बार लड़ते हैं, लेकिन उनके लड़ने का स्तर प्रारम्भ से अन्त तक एक ही है। उसमें कहीं कोई नवीनता नहीं है। उनकी हर लड़ाई की मूल समस्या लगभग एक जैसी है, चीख-चिल्लाहट और एक दूसरे के ऊपर आरोप-प्रत्यारोप लगाने की भाषा भी एक जैसी है। यह सारा लड़ाई-झगड़ा पुनरावृत्ति का आभास तो देता ही है, वह बड़े सतही स्तर पर भी है। उसमें कोई गहराई नहीं, अपरिपक्वता है, जो विशेष प्रभावित नहीं करती।

इसी के साथ-साथ शुक्ला-सुरजीत और मधुसूदन तथा सुषमा की कहानी

भी जिसे ठकुराइन की कहानी से गहरा रंग देने की चेष्टा की गई है। ठकुराइन कस्सावपुरा में रहती है और आर्थिक वैषम्य, असमानता, शोषण तथा अभाव की घुटन की ओर संकेत करती है, पर वह केवल संकेत भर ही रह जाता है। चूंकि लेखक का मन इन प्रसंगों में रमा नहीं है, इसलिए सारा वर्णन बड़ी अनुभवहीनता एव आरोपित होने जैसा आभास देता है। उसकी लड़की निम्मा है, जिसके लिए मधुसूदन के मन के किसी कोने में कोई आकर्षण जरूर है और उसके लिए ठकुराइन सारे मुहल्ले से झगड़ा मोल लेती है। वह जिन्दगी नीलिमा-हरबंस की दुनिया से कितनी बदली हुई है, उसका आभास इस तरह मिलता है, 'कोठरी भी ठकुराइन के चेहरे की तरह बदली हुई लगी। उसका पलस्तर कितनी जगह से उतर चुका था कि जो दो-चार टुकडे बचे थे वे बहुत अस्वाभाविक रूप से वहाँ चिपकाये गये से लगते थे। छत की कड़ियाँ बिलकुल स्याह पड़ चुकी थीं। दीवारों पर जगह-जगह गेरु से स्वस्तिक बने थे और राम नाम लिखा था। दोनों कोठरियों के बीच का दरवाज़ा चौखट समेत बाहर को झुक आया था।' यदि इस स्थिति को थोड़ी सहृदयता देकर अथार्थ परिवेश में उभारा जाता, तो निश्चय ही वह उपन्यास को अधिक आत्मीयता प्रदान करता। सुषमा श्रीवास्तव उन आधुनिक नारियों में है, जो अच्छी तरह जानती है कि अपने सपनों को पूरा करने के लिए उसे कौन-सा रास्ता अपनाना चाहिए। अपनी इच्छाओं के लिए चरित्र, मर्यादा या पवित्रता, वह किसी से भी समझौता करने के लिए तैयार रहती है। मधुसूदन काफी दिनों तक इसके जाल में फंसा रहता है, पर उससे मुक्त होने के लिए जिस वाक्य का सहारा लिया गया है, वह बड़ा कृत्रिम एव नाटकीय प्रतीत होता है। उस पर सहसा विश्वास नहीं होता।

वास्तव में 'अंधेरे बन्द कमरे' सम्भावनाओं का उपन्यास है। उसमें जिन समस्याओं को लेखक ने उठाया है, वे अलग-अलग स्तरों पर गहराई और सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि की माँग करती हैं, जिनके अभाव में उपन्यास उलझ गया है और हमारे सामने एक अस्पष्ट रेखाचित्र ही उपस्थित कर पाता है। इसमें शिल्प की कोई ऐसी नवीनता नहीं है, जो इसे अज्ञेय या जैनेन्द्र के उपन्यासों में प्रयुक्त विभिन्न शिल्प प्रयोगों से अलग करे। इसकी भाषा भी बहुत प्रभावशाली नहीं बन पाई है। कहीं-कहीं तो वह इतनी निर्जीव हो गई है कि अभिव्यक्ति को सशक्त बनाने मे नितान्त असमर्थ रहती है। फिर भी यह उपन्यास आधुनिक मानव सम्बन्धो की यथार्थता को नए सन्दर्भों में टटोलने की कोशिश करता है, यही बहुत है।

नरेश मेहता कृत 'यह पथ बन्धु था' (१९६२)[१] में जीवन को एक दूसरे ही

१ नरेश मेहता : यह पथ बन्धु था (१९६२)- हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर प्रा० लि० बम्बई

स्तर पर लिया गया है। कथानक उज्जैन के निकट एक काल्पनिक कस्बे की है, जिसे पुराने आगरा और शाजापुर को मिलाकर बनाया गया है। श्रीनाथ ठाकुर कीर्तनिया के परिवार के टूटने और श्रीधर के पूरी तरह विघटित होने से कथानक का मुख्य सम्बन्ध है। श्रीधर साधारण सरकारी शिक्षक है। उसमें आत्मसम्मान की भावना के साथ-साथ साधारण नैतिक मूल्यों के प्रति आस्था भी है।

वह इतिहास की एक पुस्तक लिखता है, जिसमें शिक्षा विभाग संशोधन करने के लिए कहता है, जिसे श्रीधर अपनी आत्मा के विरुद्ध मानता है और अस्वीकार कर देता है। वह अपने परिवार के अत्यन्त संकीर्ण वातावरण से निकलकर इन्दौर और फिर काशी चला जाता है।

नौकरी से त्यागपत्र देकर एक रात जब वह चुपचाप घर से निकल जाता है, तो यह एक बिडम्बना लगती है क्योंकि उसका परिवार टूटने की निम्नतम सीमा पर है। परिवार में पत्नी और तीन बच्चों के साथ वृद्ध माता-पिता हैं। इन्दौर मे वह आतंकवादी कार्यकर्ताओं के साथ हो जाता है, लेकिन अपनी आजीविका नहीं जुटा पाता। इसी आत्मग्लानि में वह घर कोई समाचार नहीं भेजता और काशी चला जाता है, जहाँ अपने राजनीतिक सम्बन्धों के कारण उसे तेरह-चौदह वर्ष जेल काटनी पड़ती है। जेल से छूटने के बाद वह 'शंखनाद' नामक साप्ताहिक पत्र निकालता है और साहित्यिक गतिविधियों में भी भाग लेने की चेष्टा करता है, पर उसे कहीं भी सफलता नहीं प्राप्त होती। उसमें न तो व्यावहारिकता है, न सक्रियता। उसमें न किसी कार्य को दूरदर्शी ढंग से सम्पन्न करने की क्षमता है और न भीतर किसी ऊँची महत्वाकांक्षा की प्रेरणा। वह एक प्रकार से जड़ व्यक्ति है और उसमें हद दर्जे तक पुंस्त्वहीनता है। उसमें साधारण व्यक्तियों जैसी कर्म की प्रेरणा भी नहीं है और उसका चरित्र अन्तर्विरोधों से भर जाता है जिस युग और समाज को नरेश मेहता ने इस उपन्यास में उभारने का प्रयास किया है, उसमें विपुल सम्भावनाएँ थीं और श्रीधक उन सम्भावनाओं को पूर्ण करने में सशक्त माध्यम बन सकता था, लेकिन ऐसा नहीं हो पाया है।

श्रीधर मे हद सीमा तक निर्ममता एवं उदासीनता भी है, जो उसे किसी भी प्रकार की सहानुभूति नहीं देती। लेखक ने अवश्य ही उसके चरित्र को गरिमा-मंडित करने तथा ऊपर उठाने का प्रयत्न किया है पर अपने आप में वह इतना पंगु चरित्र है कि लेखक की कलात्मक बैसाखियों के बावजूद वह आकर्षित नहीं कर पाता और न कोई करुणा ही उत्पन्न कर पाता है। लेखक ने बार-बार उसकी जिस आन्तरिक विवशता का उल्लेख किया है, वह उसमें अन्तः प्रसूत नहीं है, ऊपर से आरोपित ही है, और श्रीधर की मानसिक रुग्णता को छिपाने में भी असफल है। जब उसने बड़े सतही एवं कृतिम ढंग से घर एवं पारिवारिक दायित्व से पलायन किया था तो घर की आर्थिक विपन्नता वह भलीभाँति जानता था फिर भी

वह पच्चीस वर्ष तक मौन रहा और यह भी जानने की कोशिश नहीं करता कि उसके माता-पिता कैसे चल बसे। दोनों भाई मकान का बंटवारा करके अलग हो गए हैं। पत्नी सरस्वती यक्ष्मा की शिकार होकर मरण शैय्या पर है, दोनों लड़कियों का विवाह कैसे हुआ और कैसे एक सास-ससुर के अत्याचार से पीड़ित होकर पंगु अवस्था में परित्यक्ता होकर माँ के साथ ही रहने लगी। एक परिवार था, जो टूटकर बिखर गया और परिवार का सूत्रधार कुछ नहीं कर सका। क्यों? इसका कोई उत्तर लेखक ने नहीं दिया है और यह अनुत्तर श्रीधर के सारे चरित्र के सामने भी एक प्रश्नचिह्न लगा देता है। पच्चीस वर्ष उपरान्त जब वह पराजित थका-हारा घर लौटता है, तो सरस्वती की मृत्यु हो जाती है और पुत्री अपने नाना के घर चली जाती है। तब फिर वही प्रश्न उठता है कि पच्चीस साल पहले आखिर किस उद्देश्य को सामने रखकर वह घर से पलायन करता है? शायद वह कुछ भी नहीं प्राप्त करना चाहता था और एक साधारण सिरफिरे की तरह घर से भाग कर फिर वापस आ जाता है, जैसे सुबह का भूला शाम को घर वापस आ गया हो।

अन्त में फिर अकेला पड़कर वह मानव-इतिहास लिखने लगता है और लिखता है, "मानव युद्ध का पर्याय है। नीति, धर्म, अवतारी पुरुष, राजनीति, विज्ञान सब युद्ध-भाव को, युद्ध-कौशल को विभिन्न नामों से विभिन्न युगों में संज्ञित करते आये हैं। इसीलिए युद्ध हमारे रक्त, मांस-मज्जा का अनिवार्य, अविभाज्य अंग है। लड़ना प्राकृतिक है। न लड़ने के लिए प्रयास करना होता है। इसीलिए 'हिंसा' के लिए स्वीकारोक्त शब्द है, 'अहिंसा' तो अस्वीकारोक्त संज्ञा है।" उसका यह इतिहास लिखना टालसटाय के विश्व प्रसिद्ध उपन्यास 'वार एण्ड पीस' के अन्त में लिखे गए इतिहास का स्मरण दिला देता है, लेकिन जहाँ 'वार एण्ड पीस' में वह उपन्यास का अविभाज्य अंग बनकर सामने आता है, वहीं 'यह पथ बन्धु था' में ऊपर से आरोपित प्रतीत होता है और पूरे उपन्यास से न तो उसकी कोई संगति ही बैठती है और न कोई सार्थकता ही लक्षित होती है। श्रीधर में जिस कर्मठता एवं आस्था की कमी है, उसमें यह बहुत विश्वसनीय नहीं लगता कि मानव-इतिहास को लिख सकने में वह समर्थ [illegible]। [illegible] उसका व्यक्तित्व बहुत उभर नहीं [illegible] शेखर तथा [illegible] आदि अविस्मरणीय नायकों [illegible] प्रतीत होता है।

लेकिन उपन्यास के आ[illegible] अनुपस्थिति में इनके परिवार के तनाव एवं घुटन की कहानी है। सरस्वती की सहनशीलता, धैर्य एवं गहन व्यक्तित्व की मर्यादा देखते ही बनती है। श्रीधर की अनुपस्थिति में अपूर्व साहस एवं आत्मविश्वास से परिवार की देख-रेख करती है और बड़ी मूक संवेदना के साथ चुपचाप सारी वेदना पी जाती है वह एक विशेष युग की नारी की सारी करुणा पीड़ा को [illegible] कर अभिव्यक्त करने में सफल हो पाती है किन्तु उसके

परिवार पर ट्रेजेडी की जो छाया प्रारम्भ से अन्त तक छायी रहती है, वह बहुत कुछ बंगला उपन्यासों की ट्रेजेडी की तरह है। वैसे ही भावुक एवं करुण तथा गहरी संवेदनशीलता लिए हुए, जो मन को छूती भी है। यह भावुकता इन्दु के सन्दर्भ में अधिक स्पष्ट हुई है। जब श्रीधर दस वर्ष का था, तभी इन्दु का विवाह हो गया था और वह पूना चली गई थी। उससे श्रीधर को 'दीदी' का स्नेह मिलता है और उसकी स्मृतियाँ वह निरन्तर संजोये रहता है। लेकिन 'दीदी' उसके व्यक्तित्व पर कोई प्रभाव नहीं डाल पाती, सिवाय एक शरच्चन्द्रीय भावुकता उत्पन्न करने के। उसे वह केवल स्वप्नशील-भर बना पाती है। यह कहीं-न-कहीं सारे वर्णन को छायावादी बोध से भी ढंक लेता है और आधुनिकता से दूर करता है।

इस उपन्यास मे शिल्प के स्तर पर भी कोई विशेष नवीनता अगर लक्षित होती है, तो वह है, वातावरण का सजीव चित्रण। चाहे मालवा हो या इन्दौर या काशी, आँखों के सामने अपनी तमाम विशेषताओं के साथ साकार हो जाते हैं। मालवा की संस्कृति, परम्परा, आचार-व्यवहार तथा बैठने-उठने एवं सम्भाषण तक के ढंग का इतना सूक्ष्म एवं मार्मिक वर्णन बहुत कम हिन्दी उपन्यासों में प्राप्त होता है। जहाँ तक पात्रों एवं चरित्र-चित्रण का प्रश्न है, सारे पात्र पता नहीं क्यों बड़े सांचे में ढले हुए प्रतीत होते हैं। उनमें न कोई जीवन्तता है, न कोई गति, न प्रवाह। सभी स्थिर पात्र हैं और पत्थर की मूर्तियाँ प्रतीत होते हैं। जीवन को वे बड़े सरल रूप में लेते हैं, हालांकि आज के जीवन में उतनी सरलता है नहीं। जहाँ जटिलता आती भी है, वे पात्र अपने को विवशता, भावुकता या संस्कारशीलता की चादरें ओढ़कर बचा ले जाते हैं। आज के जीवन में जो गहरा अन्तर्द्वन्द्व है, हर क्षण पर नई विसंगतियाँ हैं या संकुलता है, उसका कोई आभास इस उपन्यास में नही प्राप्त होता। पूरे उपन्यास में स्थितियो के चयन का जहाँ तक प्रश्न है, उसमे भी लेखक ने निर्ममता से नही भावुक आग्रहों से काम लिया है। मालिनी की कथा का अनावश्यक विस्तार, श्रीधर द्वारा मानव इतिहास लिखने की बात, विशन, कमल तथा रतना के प्रसंग ऐसे ही हैं, जिनका कोई सामंजस्य उपन्यास के साथ नहीं है और न वे उपन्यास के मुख्य उद्देश्य के पूर्ण होने में कोई सहायता ही देते हैं।

जहाँ तक इस उपन्यास की भाषा का प्रश्न है, उस पर छायावादी मनोवृत्ति का बहुत प्रभाव है। कहीं-कहीं तो भाषा-प्रयोग एवं नवीनता के आग्रह के नाम पर शब्दों को इतना तोड़ा-मरोड़ा गया है कि वे पूर्णत: निर्जीव ही नहीं हो जाते, उपन्यास की स्वाभाविक गति में बाधक भी है। स्थान-स्थान पर बंगला वाक्-विन्यास तो और भी खटकने वाले है। वे उपन्यास की प्रभावशीलता को तीव्रतर करने के बजाय हास्यास्पद प्रतीत होते हैं। लेकिन अपनी इन सीमाओं के होते हुए भी नरेश मेहता 'यह पथ बन्धु था' म संस्कारशीलता तथा की रक्षा करने म पूर्ण सफल हुए हैं यह कम बात नहीं है आज जहाँ आधु

निकता की चकाचौंध है और सार्त्र, कामू, काफ्का हमारे अधिकांश नए प्रतिभाशाली लेखकों के आदर्श नायक बने हुए हैं वहाँ नरेश मेहता अपने इस उपन्यास में सांस्कृतिक परम्पराओं एवं गौरव-निष्ठा की रक्षा कर सके हैं, यह एक महत्वपूर्ण बात है, लेकिन यही विशेषता किसी कृति को विशिष्ट नहीं बना देती। यह उपन्यास किसी बड़ी मानवीय समस्या या व्यक्तित्व से साक्षात्कार कराने में असमर्थ रहता है यह भी सच है। यह इसकी सीमा भी है। स्वयं नरेश मेहता के अनुसार जो वे पाना चाहते थे अभी पा नहीं सके। उसके लिए वे प्रतिबद्ध अवश्य है।

निर्मल वर्मा कृत 'वे दिन' (१९६४)[1] अस्तित्व बोध की समस्या को आधुनिक धरातल पर उद्घाटित करता है। इसमें कोई क्रमबद्ध कथानक नहीं है, केवल नियति और रीतापन है। मौत की मंडराती छाया है और अंधेरे की चीख है। हर व्यक्ति दूसरे के लिए अंधेरा है और अपने लिये दिशाहारा है। इसका कोई भी पात्र यह नहीं समझ पाता कि उसे क्या करना है और कहाँ जाना है। उसके जीवन की गति क्या है और उसे क्या प्राप्त करना है। वे सब बस भटकते रहते है और अपने स्वतन्त्र अस्तित्व के लिए व्याकुल रहते है। समस्त उपन्यास पर युद्ध की छाया है, जिसकी पृष्ठभूमि में मानव-विनाश की भूमिका और मृत्यु का आतंक है। लेकिन आधुनिकता के जोश में या फैशनपरस्ती के चक्कर में निर्मल वर्मा किसी भी स्तर पर इस उपन्यास में इस मृत्यु बोध को तीखा एवं गहरा नही बना सके हैं वह ओढ़ी हुई मानसिक रुग्णता अधिक है, उपन्यास के भीतर से स्वाभाविक रूप से निःसृत नहीं होता।

कथा-नायक प्राग में आई हुई एक पति-परित्यक्ता नारी का गाइड है और उसके साथ नैतिक-अनैतिक सम्बन्ध स्थापित करने में कोई हिचक नहीं है। रायना की ट्रेजेडी यह है कि वह बहुत दिनों तक अकेली नहीं रह सकती। कथानायक का दुर्भाग्य यह है कि अकेलापन उसकी एक-एक शिराओं में घर कर गया है— "अब घर बहुत अवास्तविक-सा जान पड़ता था, जैसे वह किसी दूसरे की चीज़ हो, दूसरे की स्मृति। उसका मतलब यहाँ कुछ भी नहीं था। पहले जो भी मतलब रहा हो, वह दिन, महीनों, वर्षों के साथ धुंधला पड़ता गया था। वह अब अर्थहीन था और किंचित हास्यास्पद।' —लेकिन क्यों? इसका निर्मल वर्मा के पास कोई उत्तर नही है। केवल यह कह देने भर से काम नहीं चलजाता कि यही आधुनिकता की ट्रेजेडी है या युद्धोत्तरकालीन युरोप के जीवन की भयानक विसंगति है। इसे घर-परिवार के दायरे मे टूटने-बिखरने और सामाजिक विघटनशीलता के सन्दर्भ मे यदि प्रस्तुत किया जाता, तो कदाचित् अधिक गहराई आती और यह उपन्यास

1 निर्मल वर्मा 'वे दिन' १९६४) रा० कि० दिल्ली।

व्यापक आयामों को घनीभूत एवं साकार करने में भी सफल होता। लेकिन सारा कुछ इतने वैयक्तिक धरातल पर हुआ है कि वह पर्सनल दस्तावेज़-भर ही बनकर रह गया है।

निर्मल वर्मा वैसे भी लेखक की कोई प्रतिबद्धता नहीं स्वीकारते, इसलिए वे समाज के प्रति यदि प्रतिबद्ध नहीं भी रह सके हैं, तो कोई आश्चर्य की बात नही। और शायद यही वजह है कि उन्होंने कोई नैतिक मूल्य एवं अनिवार्य आदर्श सयम को भी पूर्णतया तिरस्कृत किया है। इस सम्बन्ध में एक उदाहरण पर्याप्त होगा। अपने रूमानियन मित्र के लिए कथानायक सब कुछ कर सकता है, क्योंकि "वह बुरा नहीं था, लेकिन उसकी प्रेमिकाओं के कारण मुझे अक्सर अपनी शामें बाहर काटनी पड़ती थीं। यों वह मेरे प्रति क्रूर नहीं था— उसने कई बार मुझसे कहा था कि मैं आँखें मूंदकर अपने पलंग पर लेट सकता हूँ, उसे और उसकी साथिन को कोई आपत्ति नहीं होगी। उसने यह भी आश्वासन दिया था कि मैं चाहूँ तो बीच-बीच में आँखें खोल भी सकता हूँ।" यह कुछ और नहीं एक प्रकार से आचरण की स्वतन्त्रता की माँग है, जो निजता को अभिव्यक्त करती है।

यह पूरा उपन्यास ऐसे ही अस्तित्ववादी सूत्रों के आधार पर कलात्मक संरचना का आभास देता है। अनास्था, कुण्ठा, घुटन एवं तनाव को ही निर्मल वर्मा ने अन्तिम सत्य मान लिया है। और जिस पगली छाया या मानव नियति की बात बार-बार वे दुहराते हैं, वह कुछ और नहीं शब्दों का जाल और लफ्फाज़ी है। वे कहीं भी गहरे जाकर इसे स्पष्ट नही कर पाते। रीतापन, मृत्यु का भय, संन्यास, दुःख की मंडराती छाया, अनास्था, घुटन तथा अकेलापन आदि आधुनिकता के ऐसे मोहक साधन हैं, जिनका इस उपन्यास में धड़ल्ले से प्रयोग किया गया है, हालांकि उपलब्धि कुछ भी नहीं होती। मारिया फ्रान्ज़ मित्र है, लेकिन उसके बर्लिन जाने से उसे कोई अन्तर नहीं पड़ता। रायना अपने पति से अलग हो गई है और हर वर्ष अपने बच्चे मीता को बारी-बारी से बाँट लेते हैं, इससे भी रायना को कोई फ़र्क नहीं पड़ता। वह कथानायक के साथ प्रत्येक प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करती है, फिर जाते समय अतीत का सब कुछ भूल जाने के लिए कहती है। यह सब उसके लिए नितान्त साधारण बात है। मारिया को भी फ्रान्ज़ की ज़रूरत नहीं है और रायना को जाक की। यह सब अर्थहीन है। प्रत्येक मानव सम्बन्ध निर्मल वर्मा के लिए खोखले और जर्जर हो चुके हैं। समझ में नहीं आता कि दुनिया में अगर सब कुछ निर्मल वर्मा के लिए जड़ हो चुका है, फिर दुनिया चल कैसे रही है और उनकी 'पगली चाह' के लिए गुंजायश कहाँ है? शायद नई-नई शराब की बोतलों में या रगों में बीयर के पहुँचने में। इस उपन्यास में कुछ भी सत्य निर्मल वर्मा के लिए नहीं है अगर है तो वोदका चियान्ती और बीयर की बोतलें। जिन्दगी उनके लिए है और आज के मानव की घुटन विवशता आर्थिक विवशता

असमानता, युद्ध और शान्ति तथा जीने के अनिवार्य सुखों का अभाव बीयर की बातलों में घुल जाने वाली चीजें, जो 'बेमतलब' हैं।

लेकिन 'वे दिन' में अपूर्व कलात्मक सौष्ठव है, यह स्वीकारना होगा। सारा उपन्यास एक काव्य है और संगीतात्मकता का बोध देता है। इतना सरस प्रवाह 'आधुनिकता' से अभिशप्त हिन्दी के उपन्यासों में कम ही देखने को मिलता है। भाषा की सक्षमता तो निर्मल वर्मा की कहानियों में पहले ही सिद्ध हो चुकी थी, इस उपन्यास में वह अधिक निखरे हुए रूप में सामने आती है। प्रत्येक शब्द जैसे सूक्ष्म संवेदनाओं के चित्र सामने उपस्थित करता है और सारा उपन्यास जैसे बोलता हुआ प्रतीत होता है। जहाँ तक कलात्मक अन्विति का प्रश्न है, निस्सन्देह 'वे दिन' सफल है।

श्री लाल शुक्ल कृत 'राग दरबारी' (१९६८)[1] आज की सामाजिक बिसंगतियों को व्यंग्य की भाषा में स्पष्ट करता है। शिवपालगंज को माध्यम बनाकर स्वातन्त्र्योत्तर काल में हुए राजनीतिक-सामाजिक परिवर्तनों को उभारने की चेष्टा इस उपन्यास में है, जहाँ भ्रष्टाचार का बोलबाला है, कोई नैतिक मूल्य रह ही नहीं गए हैं, न कोई धर्म, न कोई संस्कृति। बस अपना-अपना स्वार्थ और अपना-अपना राग। रंगनाथ कुछ छुट्टियाँ व्यतीत करने, कुछ थीसिस लिखने और कुछ अपना स्वास्थ्य बनाने शहर से भागकर शिवपालगंज जाता है और आज के वैषम्य का जैसे द्वार खुल जाता है, जो फिल्म की रीलों की भाँति हमारे सामने उभरता रहता है। प्रिंसिपल साहब, वैद्य जी, रूप्पन बाबू, मास्टर खन्ना, बद्री, गयादीन, छोटे पहलवान, कुसहर प्रसाद तथा बेला आदि रंगनाथ के साथ इस फिल्म में बड़ी तेजी से परिक्रमा करते रहते हैं और बीस साल में बीते देश की तसवीर पाठकों के सामने साफ करने में मदद देते हैं।

इस उपन्यास में यों कहने को एक सुसम्बद्ध कथानक मिल जाएगा और सारी कथा शिवपालगंज में शुरू और खत्म हो जाती है। कहीं इधर-उधर भागना-दौडना नहीं पड़ता। लेकिन महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि सिवाय व्यंग्य या तीखे प्रहार के उपलब्ध क्या होता है। भ्रष्टाचार की जो तसवीर सामने आती है, चाहे वह कोआपरेटिव बैंक को लेकर हो, चाहे गाँव सभा का चुनाव हो या छगामल विद्यालय की राजनीति हो या थाने की दुर्दशा हो, वे नयी नहीं हैं। किसी एक दिन का अखबार उठाकर आद्यन्त पढ जाने के बाद वह सारा ज्ञान प्राप्त हो जाएगा, जो यह उपन्यास देने की कोशिश करता है। हाँ यह व्यंग्य नहीं मिलेगा अखबारों मे, जो यह उपन्यास देता है, हालांकि ये व्यंग्य भी अखबारों के कार्टून और 'स्माइल

1 श्री लाल शुक्ल 'राग दरबारी' १९६८ प्रा० लि० दिल्ली

ए डे' के रेखाचित्रों से अधिक जीवन्त या सार्थक नहीं हैं और एक विशेष सीमा के बाद बड़े हल्के एवं सतही लगने लगते हैं। तब वे उपन्यास के रंग को गहरा करने के बजाय उसके प्रवाह में बाधा पहुँचाने लगते हैं। वे उपन्यास को गहराई नहीं, हल्के-फुल्के स्तर पर मनोरंजकता-भर ही प्रदान कर पाते हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'राग दरबारी' में जिन तथ्यों को प्रस्तुत किया गया है, वे प्रामाणिक हैं। लेकिन यह उपन्यास आज की तनावपूर्ण जिन्दगी की गहराई को व्यापक धरातल पर स्थापित करने में तो असमर्थ है ही, साथ ही देश की विभिन्न विचारधाराओं और उसके आयामों को भी स्पष्ट नहीं कर पाता। हालाँकि एक स्थान पर कहा गया है, "हिन्दुस्तान में पढ़े-लिखे लोग कभी-कभी एक बीमारी के शिकार हो जाते हैं। उसका नाम 'क्राइसिस आफ कांशस' है। कुछ डाक्टर उसी में 'क्राइसिस आफ़ फेथ' नाम की एक दूसरी बीमारी भी बारीकी से ढूँढ निकालते हैं। यह बीमारी पढ़े-लिखे लोगों में आम तौर पर उन्हीं को सताती है, जो अपने को बुद्धिजीवी कहते हैं और जो वास्तव में बुद्धि के सहारे नहीं बल्कि आहार-निद्रा-भय-मैथुन के सहारे जीवित रहते हैं...इस बीमारी में मरीज़ मानसिक तनाव और निराशावाद के हल्ले में लम्बे-लम्बे वक्तव्य देता है, ज़ोर-ज़ोर से बहस करता है, बुद्धिजीवी होने के कारण अपने को बीमार, और बीमार होने के कारण अपने को बुद्धिजीवी साबित करता है और अन्त में इस बीमारी का अन्त कॉफ़ी हाउस की बहसों में, शराब की बोतलों में, आवारा औरतों की बाँहों में, सरकारी नौकरी में और कभी-कभी आत्महत्या में होता है।" लेकिन यह सिर्फ किसी बात को तीखे व्यंग्य से कहने की एक खास शैली है, यह उपन्यास से स्वतः प्रसूत नहीं होता। हाँ रंगनाथ निश्चय ही इसी प्रकार का निष्क्रिय बुद्धिजीवी है, जो प्रत्येक समस्या से बड़ी सफाई से पलायन कर जाता है। वह मिट्टी का ऐसा शेर है, जो अकेले में गुर्राता रहता है, मौका पड़ने पर दुम दबाकर भाग जाता है। किसी भी समस्या से साक्षात्कार करने की उसमें क्षमता नहीं है। न तो उसमें आत्मविश्वास है, न कोई दृष्टि।

प्रश्न उठता है कि क्या आज का हिन्दुस्तान सचमुच यही है, जो इस उपन्यास में दिखाया गया है। इसमें कोई शक नहीं कि हर तरफ आवेश है, बेबसी है और तीव्र असंतोष है, लेकिन यह चित्र का केवल एक पक्ष है, जो इस उपन्यास में चित्रित हुआ है। भले ही वह साधारण हो, बहुत-से लोगों में---यहाँ तक कि नये बुद्धिजीवियों में भी एक आस्था भी है, आत्मविश्वास भी है और संघर्ष की क्षमता भी है। यह आशावाद बहुत सशक्त न भी हो, और यह चित्र का दूसरा पक्ष है, जो इस उपन्यास में नहीं है, इसीलिए यह एकांगी है और अपूर्ण है। इसमें भारतीय जीवन की किसी समग्रता का आभास नहीं होता। समग्रता से मतलब किसी यूटोपिया से नहीं अपितु अपनी समस्त अच्छाइयों-बुराइयों के साथ

भारतीय जीवन की समग्रता से है। रंगनाथ जैसे पात्र है, पर वे पात्र कहाँ हैं, जो दर दर की ठोकरें खा रहे है, लेकिन अँधेरे में ही कहीं, उनकी संघर्ष यात्रा अनवरत चल रही है और वे दिन-रात अपने-अपने रास्तों को पा लेने या उसे बना लेने के लिए बेचैन है।

इस उपन्यास में बड़ी सम्भावनाएँ थीं। प्रामाणिक अनुभूतियों को लेकर जिस प्रकार इस उपन्यास का प्रारम्भ हुआ था, यदि व्यंग्य एवं हल्के फुल्के सतही विवरणों के मोह में न पड़कर उसे गहरी अन्तर्दृष्टि से, सूक्ष्मता से, ग्रहण करने की कोशिश होती, तो निश्चय ही यह उपन्यास विगत बीस वर्षों की एक विशिष्ट उपलब्धि बन सकता था। राजनीतिक दाँव-पेंच और प्रजातन्त्र के नाम पर हुई देश की तबाही के अनेकानेक जो चित्र इस उपन्यास में पेश किए गए है, वे प्राय इने-गिने उपन्यासों मे ही देखने को मिलते हैं। इनमें विषमता भी है और रोचकता भी। लेकिन कुल मिलाकर यह उपन्यास किसी अखबारी रिपोर्ताज़ से अधिक सशक्त नही बन पाया। ऐसा लगता है कि यह उपन्यास स्वतन्त्रता दिवस या गणतन्त्र दिवस पर किसी निष्पक्ष वामपंथी अखबार द्वारा निकाला गया 'सप्लीमेंट' है। सारी चीज़ें इसमें इतनी तेजी से घूमती है कि कोई भी दृश्य मन पर न तो स्थायी प्रभाव छोड़ पाता है और न मन को गहरे छू ही पाता है। यदि हल्के-फुल्के रोचक वर्णन, व्यंग्य की भरमार तथा अखबारी रिपोर्ट ही आज की विषमताओ से भरी हुई ज़िन्दगी को अर्थवत्ता प्रदान करने के लिए अनिवार्य है, तो निश्चय ही 'राग दरबारी' एक मनोरंजक उपन्यास है, अन्यथा न वह जीवन का कोई विशाल चित्रफलक ही प्रस्तुत कर पाता है और न आज के तनावों की कोई तस्वीर ही। यही इसकी बहुत बड़ी सीमा है।

इलाचन्द्र जोशी कृत 'ऋतुचक्र',[1] (१९६९) एक लम्बे अन्तराल के पश्चात् प्रकाशित उनका नवीनतम उपन्यास है। प्रारम्भ में कुछ केस-हिस्ट्री को लेकर मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों की रचना के पश्चात् जब 'सुबह के भूले' और 'जहाज़ का पंछी' नामक उपन्यास प्रकाशित हुए, तो ऐसा लगा कि अब वे अपने को पूर्णत: सामाजिक धरातल पर प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। हालाँकि उन उपन्यासों की कलात्मक संरचना उतनी श्रेष्ठ नही थी, जितनी उनके मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों की, लेकिन व्यापक सामाजिक संदर्भों को समेटने तथा आदर्श एव यथार्थ की टकराहट उनमें स्पष्ट देखी जा सकती है। विशेष रूप से 'जहाज का पंछी' (१९६५) में व्यक्ति के अहंवाद पर वैयक्तिक स्तर पर नहीं, सामाजिक स्तर पर प्रहार किया गया है। कथानायक महानगर कलकत्ते में जिस प्रकार आज

1　　जोशी 'ऋतुचक्र' १९६९)

की सफेदपोश जिन्दगी का पर्दाफाश करता है, चकलेखाने में जाकर वेश्याओं का उद्धार करता है, वह देखने में चाहे जितना अस्वाभाविक और असंगतियों तथा संयोग-तत्त्वों से भरा हो, जोशीजी इतना तो स्पष्ट करने में सफल हो ही जाते हैं कि सब ओर जीवन अरक्षित और अव्यवस्थित है। सबके मन के अणु बिखरकर छितरा गए हैं और विस्फोटक तत्त्वों से भरे हुए हैं।

'ऋतुचक्र' में यह वैचारिक स्तर अधिक घनीभूत हुआ है, जो उनके 'मुक्ति-पथ' से प्रारम्भ हुआ था। इसमें उपन्यासकार के सिद्धान्तों का प्रतिपादन दादा नामक पात्र करता है। ऐसा लगता है कि इधर क्षणवादी युग और अस्तित्ववाद की जितनी अधिक चर्चा हुई है, जोशी जी उससे उतने ही अधिक परेशान रहे हैं। दादा हर बात में हरएक पैराग्राफ के बाद और प्रायः हर पृष्ठ पर इनके खिलाफ एक लम्बा वक्तव्य दे देता है। वह जैसे भरा बैठा रहता है और चाहे कोई भी बात हो रही हो, घुमा-फिराकर दादा बात-चीत का सन्दर्भ-अस्तित्ववाद एवं क्षणवादी दृष्टिकोण के विरुद्ध मोड़ देता है। एक स्थान पर वह कहता है, "नीति का अपना निजी महत्व हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता। पर मैंने नैतिक दृष्टि से किसी कर्म या भावना की अच्छाई या बुराई का विचार न कभी किया न कर ही सकता हूँ मैं तो विशुद्ध मानवतावादी दृष्टि से सोचता हूँ। मूलगत मानवीय तत्वों और मानवीय संवेदनाओं के इच्छित हनन से जो मनोवैज्ञानिक क्रिया-प्रतिक्रियाएँ व्यक्ति के मन या समाज के सामूहिक मन पर चलती हैं उनके कुछ निश्चित प्राकृ-तिक नियम होते हैं, और वे ही नियम सहज गति से ही, व्यक्ति या समाज के लिए उपयुक्त दण्ड का विधान भी तय कर लेते हैं। मनुष्य की उत्पत्ति के आदि काल से लेकर आज तक यह नियम अटूट क्रम से स्वयंसिद्ध रूप से अपना काम करता चला आ रहा है। इतिहास इसका साक्षी है।" एक अन्य स्थान पर वह कहता है, "वे लोग जो अस्तित्व-बोध से संत्रस्त हैं, जो संत्रास उन्हें दिखाई देता है, वह उनकी मंद दृष्टि और जीवन को एक विशेष कोण से देखने के कारण उपजा हुआ भ्रम है। यदि दृष्टि मंद है तो एक अच्छे दूरबीन का सहारा लो और गलत कोण से देखना छोड़ दो—तभी जीवन की वास्तविकता एक नये और यथार्थ परिप्रेक्ष्य में सामने आएगी, वर्ना निराशा और अंधकार का अतल गर्त तुम्हें लील जाएगा।" इस वैचारिक स्तर को स्पष्ट करने के लिए जोशी जी ने नकुलेश, प्रतिमा, महीप तथा रामबाबू आदि पात्रों को जिस प्रकार प्रस्तुत किया है, वह विधान अत्यन्त कृत्रिम है। जोशी जी इन पात्रों की स्वाभाविकता या यथार्थता पर उतना ध्यान नहीं दे पाए हैं, जितना अपने आक्रोश एवं आवेश को स्पष्ट करने पर। स्वयं उनके विचारों का वाहक दादा ही अयथार्थ पात्र है। ये सभी लेखक के संकेतों पर ही जैसे घूमते रहते हैं- इसीलिए उनमें कोई सप्राणता नहीं है और वे निर्जीव कठ-पुतलियां मात्र प्रतीत होते हैं

इन पात्रों की सबसे बड़ी कमी यह है कि उनमें अनुभूति की कोई सच्चाई नहीं है, इसीलिए वे प्रामाणिक भी नहीं हैं। उन विचारों का लबादा इतना बोझिल हो जाता है कि उनकी अपनी कोई स्वाभाविक गति निर्मित ही नहीं हो पाती। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जोशी जी ने विचारों के स्तर पर अनेक मौलिक एवं अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न उठाए हैं, पर वे उपन्यास से स्वतः निःसृत नहीं होते और ऊपर से आरोपित प्रतीत होते हैं। यही कारण है कि पूरा उपन्यास किसी एक महान अनुभूति या समस्या से तादात्म्य करा सकने में असमर्थ रहता है। शिल्प के स्तर पर इसमें वे विशेषताएँ भी लक्षित नहीं होतीं, जो 'जहाज़ का पंछी' में विकसित हुई थीं। कथा-संगठन अत्यन्त शिथिल है और बहुत सीमा तक नीरस भी है। हाँ वातावरण का, विशेषतया पर्वतीय अंचल का जोशी जी ने अत्यन्त हृदय-ग्राही चित्रण किया है, जो प्रभावशाली बन पड़ा है। चित्रा की आत्महत्या के बाद जिस वातावरण को प्रस्तुत किया गया है, वह उल्लेखनीय है। उसमें अवसाद की तीखी प्रतिक्रिया, घुटन एवं तनाव बड़ी सूक्ष्मता से मुखरित हुए हैं। यदि जोशी जी ने अपने इन विचारों को स्पष्ट करने के लिए अधिक सूक्ष्म कथा-संगठन किया होता तथा चयन शक्ति की समर्थता अपनायी होती, तो निश्चय ही एक लम्बी अवधि के उपरान्त यह उनका अविस्मरणीय उपन्यास होता और हिन्दी की एक विशिष्ट उपलब्धि होता।

० ० ०

अनुक्रमणिका